पं० श्री हरबंसलाल शर्मा

स्मृति-ग्रन्थ

गायत्री महामंत्र

ओ३म् भूर्भव: स्व:। तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो योन: प्रचोदयात्।।

तूने हमें उत्पन्न किया, पालन कर रहा है तू।
तुझ से ही पाते त्राण हम दु:खियों के कष्ट हरता है तू।।

तेरा महान् तेज है छाया हुआ सभी स्थान।
सृष्टि की वस्तु वस्तु में तू हो रहा है विद्यमान।।

तेरा ही धरते ध्यान हम मांगते तेरी दया।
ईश्वर! हमारी बुद्धि को श्रेष्ठ मार्ग पर चला।।

॥ओ३म्॥

गुरुकुल-शिक्षादर्शन

कर्त्तव्यपथ के पथिक एवं गुरुकुल-परम्परा के प्रति समर्पित

पं० श्री हरबंसलाल शर्मा

स्मृति-ग्रन्थ

सम्पादक:

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

प्रोफेसर एवं निदेशक

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

2003

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार-249404

मूल्य	२५०.०० रुपये
मुद्रक	परिमल पब्लिकेशन्स २७/२८ शक्ति नगर, दिल्ली ११०००७

दानशिरोमणि पंडित श्री हरबंसलाल शर्मा



पं० श्री हरबंसलाल शर्मा को शत-शत नमन

अपने पूर्वजों का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करने वाला राष्ट्र, समाज और परिवार उन्नति के शिखर की ओर अग्रसर होता है। गुरुकुल परिवार की यह उदात्त परम्परा रही है कि वह अपने पूर्वजों का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करता रहा है। आज हम आर्य समाज के शलाका पुरुष पं. श्री हरबंसलाल जी शर्मा का स्मरण कर रहे हैं।

पं. श्री हरबंसलाल जी शर्मा एक ऐसी विभूति रहे हैं, जिनका हमारे गुरुकुल परिवार से पुराना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, बिल्कुल उसी प्रकार का जैसे किसी का किसी से रक्तसम्बन्ध होता है। जब माननीय वीरेन्द्र जी आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के प्रधान तथा गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति हुआ करते थे, और आदरणीय श्री सुभाष विद्यालङ्कार इस विश्वविद्यालय के कुलपति पद पर आसीन थे, उस समय की बात है कि काँगड़ी गाँव स्थित कुलभूमि के गंगाप्रवाह में प्रवाहित होने की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। उत्तर प्रदेश शासन के वरिष्ठ अधिशासी अभियन्ता ने यह कह दिया था कि इस गुरुकुल को बचा पाना किसी के वश में नहीं है, इस कारण किसी भी प्रकार की सहायता करने से मना कर दिया था। ऐसे विकट में समय पंडित जी कुलभूमि की रक्षा के लिये आगे आये और उन्होंने इस कार्य के लिये १० लाख रुपये दिये। उस समय पण्डित जी की द्वारा दिया गया दान कुलमाता के मूर्तरूप में आज भी दिखायी दे रहा है। जब शासन-प्रशासन निराश हो चुका था, उस समय महात्मा मुंशीराम जी की तपस्थली को पण्डित जी के पुण्य प्रताप ने बचा लिया। यदि उस समय पण्डित जी भी उत्तर प्रदेश शासन के आकलन के आधार पर निराश हो जाते तो यह पुण्यभूमि अन्य प्राचीन स्मारकों के समान इतिहास का विषय बन गयी होती। आगे आने वाली पीढ़ियों का प्रेरणास्रोत गंगा की धारा में प्रवाहित हो गया होता। इससे यह सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है कि पण्डित जी के मन में गुरुकुल के प्रति कितना लगाव था, कितना अपनत्व

था। इस अपनत्व को वही जान सकता है जैसे बचने की आशा न रहने पर भी पुत्र को बचाने के लिये एक पिता अपना सर्वस्व का उत्सर्ग करने के लिये तत्पर हो जाता है। ऐसे समय में हानि-लाभ की परवाह कौन करता है? पण्डित जी भी महात्मा श्रद्धानन्द की तपस्थली को ऐसी ही दृष्टि से देखते थे।

पं. श्री हरबंसलाल जी शर्मा की दानवीरता को देखकर पूज्यपाद स्वामी सर्वानन्द जी महाराज प्रायः कहा करते थे कि औरों के वृक्षों पर पत्ते लगते हैं पर लगता है कि तुम्हारे पेड़ पर नोट लगते हैं। इस प्रकार का था स्वभाव पं. श्री हरबंसलाल जी शर्मा का। वे इतनी उदारता से दान करते थे, जैसे कोई पेड़े के पत्ते तोड़कर बाँट रहा हो, उसी प्रकार पण्डित जी अपनी जेबों से नोट निकालकर बाँट दिया करते थे।

आज यह महामानव हमारे बीच नहीं है, परन्तु उसके उज्ज्वल यश से न केवल आर्य जगत् आलोकित और प्रमुदित है, अपितु समस्त भारत में उसकी कीर्ति पताका फहरा रही है। जहाँ तक पञ्चनद प्रान्त का प्रश्न है, वह आज अपने बीच एक और कर्ण को पाकर गौरव का अनुभव कर रहा है। आज हम (यह समस्त गुरुकुल परिवार) ऐसे त्यागी, तपस्वी, महादानी, यशस्वी वीर की पुण्यतिथि पर श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हुए पुनः पुनः नमन करते हैं।

प्रो० स्वतन्त्र कुमार
कुलपति
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

सम्पादकीय

भारतभूमि ऋषियों, मुनियों, वीरों, दार्शनिकों, दानियों की भूमि रही है। यह वह भूमि है, जहाँ विश्व की प्रथम प्रकाश की किरण अवतरित हुई, यहीं से प्रेरणा लेकर विश्व के मानवों ने अपने चरित्र को उदात्त बनाने का प्रयास किया।[1] जब-जब मानवता को आवश्यकता हुई इसी भूमि पर धर्म का उद्धार और अधर्म के विनाश हेतु महापुरुष अवतरित हुए।[2] ऐसी दिव्यविभूतियों से यह देश भरा पड़ा है।

इस देश की भूमि को अपने तेज, ओज और पराक्रम से गौरवान्वित करने वाला प्रान्त यदि कोई है तो वह पञ्चनद है। यहाँ की धरा ने न केवल विदेशी आक्रमणकारियों के असंख्य आक्रमणों को सहा है, अपितु अपने पराक्रम के तेज से उनको पराभूत भी किया है। यह वह भूमि है जिस पर पाणिनि जैसा प्रतिभा का धनी व्यक्तित्व अवतरित हुआ। अपने जन्म से गुजरात प्रान्त को अलङ्कृत करने वाले महर्षि दयानन्द की कर्मभूमि भी यह पञ्चनद प्रान्त रहा है। महाराष्ट्र की राजधानी मुम्बई में आर्य समाज की प्रथम स्थापना महर्षि ने भले ही की हो, इतिहास साक्षी है कि यहाँ आर्य समाज का बीज वटवृक्ष का रूप नहीं ले सका। महर्षि को जिस प्रान्त पर सबसे अधिक आशा थी, वीरों की वह भूमि राजस्थान भी अपनी प्रकृति के अनुरूप रेगिस्तान की मृगमरीचिका ही सिद्ध हुई।

परन्तु पंजाब ने न केवल महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों को अपने जीवन में आत्मसात् किया, अपितु आर्यसमाज के आन्दोलन से उद्बुद्ध चेतना के कारण स्वातन्त्र्य यज्ञ में भी अपने आकार और सामर्थ्य से अधिक योगदान दिया। लाला लाजपतराय और भगतसिंह जैसे वीर इसी भूमि के सपूत हैं। विरोधियों के गढ़ में भी आर्यसमाज की पाखण्ड खण्डनी पताका को

---

१. मनु० एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

२ गीता-४.७.

लेकर गरजने वाले अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द की जन्मभूमि और कर्मभूमि भी यह पञ्चनद प्रान्त रहा है।

ऐसी वीर प्रसविनी भूमि के जालन्धर मण्डल के अन्तर्गत ग्राम रुड़का कलां में २ फरवरी १९२० को एक धार्मिक परिवार में श्री पं० कर्मचन्द जी शर्मा के यहाँ पं० श्री हरबंसलाल शर्मा का जन्म हुआ। यह एक ऐसा परिवार था जिसमें धार्मिक भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। अपने परिवार की पृष्ठभूमि बताते हुए पं श्री हरबंसलाल शर्मा के अनुज श्री आचार्य विनय कुमार शर्मा कहते हैं:-''**यह वह समय था, जब आर्यसमाज का प्रचार अपने पूर्ण यौवन पर था। अनेक विद्वान् और संन्यासी आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिये भारत के अनेक नगरों का भ्रमण करते रहते थे। वहाँ पर आर्यसमाज की स्थापना के साथ-साथ प्रचार भी करते थे। हमारा परिवार उस समय कराँची में रहता था। कीमाड़ी कराँची का एक उपनगर है, कीमाड़ी आर्यसमाज के भवन को बनाने के लिये हमारे परिवार ने अपने तन, मन, धन से सेवा की। हमारे पिता जी पण्डित कर्मचन्द जी एवं उनके छोटे भाइयों पण्डित किशनचन्द जी और पण्डित मुरारीलाल जी ने अपने सिर पर ईंटों तथा रेत और बजरी के तसलों को ढोया और आर्यसमाज का भवन बनाने के लिये तन, मन, धन से सेवा की। इस आर्यसमाज का उद्घाटन उस समय के वयोवृद्ध संन्यासी स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी ने किया। इनका प्रवचन प्रत्येक रात्रि को सात बजे से नौ बजे तक हुआ करता था। इनके अतिरिक्त स्वामी सर्वदानन्द जी तथा पण्डित लोकनाथ जी तर्कवाचस्पति के प्रवचन भी समय-समय पर होते रहते थे। स्वामी श्रद्धानन्द जी भी गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना करने के पश्चात् कराँची आये थे। उनकी प्रेरणा से ही गुरुकुल कुरुक्षेत्र की भी स्थापना हुई थी।**'' आर्य समाज के लिये कैसी लगन थी, का प्रमाण उपर्युक्त उद्धरण से प्राप्त हो जाता है। इस तथ्य को समझने में भी कठिनाई नहीं होती कि आर्य समाज का बीज क्यों पंजाब की उर्वरा भूमि में वटवृक्ष का रूप ले सका।

अस्तु, हम यह भलीभाँति समझ सकते हैं कि पं श्री हरबंसलाल शर्मा किस पृष्ठभूमि में अवतरित हुए थे। पं श्री हरबंसलाल शर्मा के दादा जी एक अच्छे कर्मकाण्ड के ज्ञाता थे

तथा साथ ही किस प्रकार जीवनरूपी समर में उतारने के लिये एक बालक को तैयार करना चाहिए, इस कला के मर्मज्ञ थे। जैसा कि शास्त्रों का कथन है कि जो माता-पिता या आचार्य अपनी सन्तान या शिष्य से केवल लाड़ करते हैं, वे मानो विष पिलाकर उनके जीवन को नष्ट कर रहे हैं। और जो अपराध करने पर दण्डित करते हैं, वे मानों उन्हें गुणरूपी अमृत का पान करा रहे हैं।[3] कुछ इसी प्रकार के कठोर अनुशासन में बालक हरबंसलाल शर्मा के सफल जीवन की नींव रक्खी गयी। पण्डित जी के दादा जी उन्हें प्रातः ४ बजे खेतों में शौचादि नित्यकर्म के लिये ले जाते थे और वहीं पर शौचादि के उपरान्त तीन मील की दौड़ भी लगवाते थे, उसके पश्चात् व्यायाम और तेलमालिश का कार्यक्रम चलता था। उसके पश्चात् स्नान आदि करके घर वापिस आ जाते थे। घर में गाय और भैंस हमेशा से ही रक्खी जाती थी, और भैंस का दूध निकालने का काम भी पं० हरबंसलाल जी को करना होता था। इसी प्रकार सायंकाल को भी भ्रमण को जाते थे। गाँव के बाहर एक कुश्ती लड़ने का अखाड़ा था, जिसमें पं० हरबंसलाल जी कुश्ती लड़ते थे। घर आने पर चारा काटने की मशीन से चारा काटकर पशुओं को खिलाना पड़ता था। इस प्रकार के तपस्यामय जीवन जीने के कारण पं० हरबंसलाल जी का शरीर हृष्ट-पुष्ट हो गया था।

जब पं० हरबंसलाल जी ने दसवीं कक्षा उत्तीर्ण की, तब उनके दादा जी उनको लेकर कराँची उनके पिता के पास आये और उनसे बोले कि मैंने इसे ऐसा बना दिया है कि तुम जहाँ भी इसको लगाओगे वहीं पर वह अपना कार्य भलीभाँति मेहनत के साथ करेगा। यह उस समय की बात है, जब द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ होने को था। रॉयल एयर फोर्स में पं० हरबंसलाल जी की नियुक्ति हो गयी। चूँकि इनका बालजीवन कठोर अनुशासन में व्यतीत हुआ था, इसलिये उनको एयर फोर्स में किसी प्रकार की कठिनाई अनुभव नहीं हुई। इनके कार्य से अधिकारी बहुत प्रसन्न थे और इस कारण इनको जल्दी-जल्दी प्रोन्नति मिलने लगी। एयर फोर्स

---

३. सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय समु०, पृ०,६१.पत०, महाभाष्य,८.१.८. 'सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः। लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः।'

में रहते हुए भी ये मांस, मदिरा अण्डे आदि तामसिक जीवन से बहुत दूर थे। एक अंग्रेज अधिकारी ने इनको समझाया कि हिन्दुस्तानी लोग मांस, मदिरा आदि के सेवन न करने के कारण पिछड़ जाते हैं, उनका शरीर उतना बलवान् और सुगठित नहीं होता, जितना एक मांसाहारी व्यक्ति का होता है। पं० हरबंसलाल जी का उत्तर था कि वास्तविकता ऐसी नहीं है, किसी भी मांसाहारी व्यक्ति से मेरी कुश्ती करवा दीजिये, आपको मालूम पड़ जायेगा कि यह सच नहीं है। अंग्रेज अधिकारी ने अपने एक हृष्ट-पुष्ट सैनिक से पण्डित जी की कुश्ती करवाई, जिसे पण्डित जी ने कुछ ही मिनटों में परास्त कर दिया। अंग्रेज अधिकारी ने पण्डित जी की पीठ थपथपायी और कहा कि मुझे नहीं मालूम था कि शाकाहारी व्यक्ति इतना बलवान् हो सकता है।

भारत विभाजन के पश्चात् पं० हरबंसलाल जी का सारा परिवार कराँची से जालन्धर चला आया और सबने जालन्धर शहर में रहने का निश्चय किया और पं० हरबंसलाल जी भी एयर फोर्स की नौकरी छोड़कर परिवारसहित जालन्धर आकर रहने लगे। अब परिवार के सामने आजीविका की समस्या थी। इन्होंने यहाँ साइकिल के पुर्जे बनाने का काम शुरु किया। ये एक छोटी सी मशीन से साइकिल के पुर्जे बनाते और उनको एटलस साइकिल कम्पनी को सप्लाई कर देते। इसी बीच सादा जीवन जीने के अभ्यस्त पं० हरबंसलाल जी ने कुछ पैसे बचाकर माडल टाउन में अपना एक मकान भी बना लिया। जीवन की गाड़ी किसी प्रकार चल रही थी। आगे चलकर पण्डित जी ने विद्युत् ऊर्जा से चलने वाली मशीन लगा ली, इससे इनका दिन दूना रात चौगुना व्यापार बढ़ने लगा। अब तक पण्डित जी के बड़े सुपुत्र श्री सुदर्शन शर्मा जी भी अपनी पढ़ाई पूरी कर चुके थे, वे भी अपने पिता जी के साथ कन्धा से कन्धा मिलाकर काम करने लगे। दोनों पिता-पुत्र अपने हाथ से काम करते और शाम तक दोनों के कपड़े काले पड़ जाते थे। एक दुकान से प्रारम्भ किया गया व्यापार अब कारखाने का रूप ले चुका था। आगे चलकर आपने इसी व्यापार को देश की सीमा से परे ले जाकर एक बड़े व्यापार के रूप में प्रतिष्ठित किया। इस समय आपके सुपुत्रगण जालन्धर के एक बड़े एक्सपोर्टर माने जाते हैं।

इस प्रकार प्रारम्भ में एक बहुत छोटी सी पूँजी से शुरु किया गया कार्य आज एक साम्राज्य का रूप ले चुका है। यह तो रही आर्थिक यात्रा की कहानी जो किसी भी व्यवसायी के लिये प्रेरणा का स्रोत हो सकती है। परन्तु पण्डित जी के जीवन का इससे भी अधिक उज्ज्वलपक्ष एक और है। उपर्युक्त प्रकार की आर्थिक सफलता तो औरों ने भी बहुत प्राप्त की है, लेकिन अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहते हुए सहानुभूति के साथ दूसरों की सहायता करना कोई सीखे तो पण्डित जी से सीख सकता है। महर्षि दयानन्द द्वारा दिये गये इस मूल मन्त्र को जिस रूप में पण्डित जी ने अपने जीवन में उतारा है, वह न केवल सराहनीय है, अपितु अनुकरणीय भी है।

श्री पं० हरबंसलाल शर्मा जी की आर्य समाज और गुरुकुल के प्रति अगाध श्रद्धा थी। उनकी यह मान्यता थी कि कोई भी बालक आर्थिक संसाधनों की कमी से पढ़ने से वञ्चित नहीं रहना चाहिए। इसलिये वे गुरुकुलों में जा-जाकर भरपूर दान दिया करते थे। सम्भवत: यह भी एक कारण था कि लोग उन्हें संस्था के सर्वोच्च पदों पर बैठाना अपना गौरव समझते थे। पण्डित जी ने न केवल गुरुकुलों के सञ्चालन में सहयोग प्रदान किया, अपितु उन्होंने कन्या महाविद्यालय की स्थापना भी की। एक बार पं० लेखराम स्मारक समिति की तत्त्वाधान में आयोजित सभा चल रही थी, जिसकी अध्यक्षता पूज्यपाद स्वामी सर्वानन्द जी महाराज कर रहे थे। वहाँ लोगों ने स्वामी जी से कहा कि यहाँ एकमात्र मुस्लिम कालेज है और हमारी लड़कियाँ उस कालेज में पढ़ने हेतु जाने के लिये मजबूर हैं। स्वामी जी ने पण्डित जी से कहा कि ये सब आपकी ओर देख रहे हैं, कुछ कीजिए। तत्काल पण्डित जी ने ढाई लाख रुपये देने की घोषणा की और वहाँ की जनता को इस कार्य के लिये प्रेरित भी किया। यह उनकी वाणी का ही पुण्य प्रताप था कि उसी समय महिला महाविद्यालय की स्थापना के लिये आठ लाख रुपये दान में आगये और उसी दिन अमर शहीद पं० लेखराम आर्य महिला महाविद्यालय की आधारशिला रख दी गयी। ऐसे एक नहीं अनेक उदाहरण मिल जाते हैं, जिसमें पण्डित जी ने प्रथम आहुति दी और फिर शुरु हो गया आहुतियों का क्रम।

इतना दान देने पर भी पण्डित जी को अहङ्कार छू भी नहीं गया था। वे दान देने के लिये भी माध्यम ढूँढते थे। श्री श्यामलाल आर्य ने एक घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है कि पण्डित जी ने एक बार करतारपुर में एक लाख रुपया दिया और एक लाख और देकर कहा कि यह रुपया मुझे इंग्लैंड में किसी ने दिया था, इतने में ही श्री चतुर्भुज मित्तल खड़े हुए, उन्होंने कहा कि वह जो दूसरा एक लाख रुपया है, वह भी पण्डित जी ने ही दिया है, पण्डित जी मेरा हाथ पकड़ रहे हैं कि बताओ नहीं। ऐसे थे पण्डित जी जो देकर भी देने के अहंकार से बचने का मार्ग ढूँढते रहते थे। उनके जीवन में इस प्रकार के न जाने कितने प्रसङ्ग हैं। हमारे कुलपति प्रो० स्वतन्त्र कुमार जी को भी इस प्रकार न जाने कितनी बार दान देने के लिये रुपया दिया कि इस धन को जहाँ उचित समझो, वहाँ लगा दो। नीतिकार मानते हैं कि धन की तीन अवस्थाएँ होती हैं-१. दान, २. भोग, ३. नाश। जो व्यक्ति धन का न तो दान करता है और न भोग उसके धन की तीसरी अवस्था होती है अर्थात् उसका धन नष्ट हो जाता है।[४] इन तीन अवस्थाओं में से भी धन की सर्वश्रेष्ठ स्थिति दान मानी गयी है। पण्डित श्री हरबंसलाल शर्मा जी धन की श्रेष्ठ गति दान को ही मानते थे, इसलिये उनके जीवन का मूलमन्त्र भी निरन्तर दान करते रहना रहा है। वेद स्पष्ट रूप से कहता है कि जो मनुष्य अन्न-धन-सम्पत्ति का स्वामी बनकर उससे किसी ज्ञान देनेवाले विद्वान् का पोषण नहीं करता, उसका अन्नधन-सम्पत्ति पाना व्यर्थ है। वह केवल अकेले खाकर पापी बनकर इस संसार से चला जाता है।[५] वेद का यह वाक्य **"केवलाघो भवति केवलादी"** लगता है पण्डित जी के जीवन का प्रेरणास्रोत रहा है, मार्गदर्शक रहा है, इसी मार्ग पर चलकर वे इस दिव्य यश के भागी बने हैं। ये धन तो रथ के पहिये की भाँति आते जाते रहते हैं,[६] लेकिन जो इन धनों का अहङ्कार न करता हुआ अपने कर्त्तव्य पथ पर चलता रहता है, वही इस संसार में महान्

---

४ पञ्चतन्त्र, दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य। यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥

५ ऋ०१० ११७ ७. मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता: सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

६. ऋ०१०.११७.५ ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्ति राय:॥

कहलाता है। पण्डित जी प्रायः कहा करते थे कि मैं एक पोस्टमैन हूँ, डाकिया हूँ, भगवान् मुझे बाँटने के लिये देता है और मैं उसको डाकिया के समान जिसके लिये दिया है, उस तक पहुँचा देता हूँ। इस संसार में यदि किसी से जीतना कठिन है तो वह ममत्व या दूसरों शब्दों में अहङ्कार है। लेकिन कोई अहङ्कार से बचने का रास्ता सीखना चाहे तो पण्डित जी से सीख सकता है। यही मुक्ति का मार्ग है, जब कर्म करता हुआ भी व्यक्ति कर्म नहीं करता है, दूसरों को देता हुआ भी 'मैं दे रहा हूँ' इस भाव से ऊपर उठ जाता है। यही निष्काम योग है, जो पण्डित जी के जीवन में सहजयोग के रूप में प्रकट हो रहा है।

यह दान की ही महिमा है कि इस संसार में प्रायः लोग लेने आते हैं, परन्तु पण्डित जी जैसे विलक्षण व्यक्तित्व लेना नहीं देना ही जानते हैं। जो देता है, वही देवता है, पण्डित जी इन अर्थों में इस युग के देवपुरुष ही थे। पण्डित जी अपने जीवन के लगभग १६ वर्षों से निरन्तर गुरु विरजानन्द स्मारक समिति (ट्रस्ट) करतारपुर के प्रधान चले आ रहे थे और उनकी छत्रछाया में इस गुरुकुल ने अनेक उन्नति के सोपान पार किये। पण्डित जी सार्वदेशिक सभा, दिल्ली के उपप्रधान तथा लगभग दो दशक से आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के कोषाध्यक्ष आदि पदों को सुशोभित करते रहे। विगत ९ वर्षों से आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के प्रधान चले आ रहे थे। यह दान की महिमा ही कही जा सकती है कि जहाँ आर्यसमाज के चुनावों में प्रायः सर्वसम्मति देखने में नहीं आती, वहीं पण्डित जी इस युग में भी आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के निर्विरोध प्रधान चुने गये। लोभादि का लेश न होने के कारण अन्य सभाओं ने पण्डित जी को गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति पद पर प्रतिष्ठित किया।

सौभाग्य का विषय यह रहा कि पण्डित जी का जिस व्यक्ति पर हमेशा वरदहस्त रहा और जो सर्वदा उनके स्नेह के पात्र रहे, ऐसे आर्यसमाज के प्रति समर्पित माननीय प्रो० स्वतन्त्र कुमार जी की गुरुकुल के कुलपति पद पर नियुक्त हुई। तपस्वी और कर्मठ होने के साथ-साथ आपकी आर्यसमाज के संगठन पर गहरी पकड़ है। आप कुलाधिपति के दिशानिर्देश के अनुरूप गुरुकुल विश्वविद्यालय को इस रूप में आगे बढ़ाना चाहते हैं, जिसमें गुरुकुलत्व भी हो विश्वविद्यालय की गरिमा भी। जिसमें वेद भी हो और युग की अपेक्षा के अनुरूप वैदिक

विज्ञान के आलोक में अभिव्यक्ति पाता हुआ आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन भी। यह एक ऐसा विश्वविद्यालय बने जहाँ पूर्व और पश्चिम की विद्याओं के उदात्त स्वर समाहित हों।

पण्डित श्री हरबंसलाल शर्मा जी का सारा परिवार महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज के मिशनरी कार्य के प्रति समर्पित रहा है और आज भी समर्पित है। पण्डित जी के पूज्य चाचा श्री मुरारीलाल शर्मा जी, जिन्होंने कराँची (कीमाड़ी) आर्यसमाज के भवन निर्माण के लिये अपने सिर पर ईटों तथा रेत और बजरी के तसलों को ढोया और आर्यसमाज का भवन बनाने के लिये तन, मन, धन से सेवा की। ऐसे तपस्वी के सुयोग्य कुलकीर्ति को बढ़ाने वाले श्री देवेन्द्र शर्मा जी पण्डित श्री हरबंसलाल जी के साथ तो रहे ही हैं और आज भी रजिस्ट्रार, आर्य विद्या परिषद् के रूप में आर्य समाज की सेवा कर रहे हैं, आप भी अपने पूज्य पिता की तरह आर्यसमाज को समर्पित हैं।

विधि का विधान अटल है, जो आया है, उसे एक न एक दिन जाना ही है। परन्तु अस्त होता हुआ भी अतीत अपने स्थान पर वर्तमान को प्रतिष्ठित और भविष्य की रूपरेखा का चित्र प्रस्तुत करता है। जब कोई इस प्रकार संसार के रंगमञ्च से प्रस्थान करता है, तब वह दु:खद होता हुआ भी उतना दु:खद नहीं होता। यह सत्य है कि आज हमारे बीच पं०श्री हरबंसलाल जी शर्मा भौतिक रूप से नहीं है, परन्तु उनके प्रतिनिधि श्री सुदर्शन शर्मा जी, सुरेश शर्मा जी एवं नरेश शर्मा जी हमारे बीच विद्यमान हैं। वे न केवल अपने पिता के भौतिक शरीर के प्रतिनिधि हैं, अपितु वे उनके यश:शरीर के भी प्रतिनिधि हैं। वे माता-पिता सफल माता-पिता हैं, जिनकी सन्तान यश की दृष्टि से पिता से आगे निकलती है। यह सौभाग्य का विषय पण्डित जी के तीनों प्रतिनिधि अपने पिता की धवल कीर्ति को आगे बढ़ा रहे हैं। जहाँ उनका उद्योग जगत् में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है, वहीं वे समाजसेवा के अनेक प्रकल्पों में भरपूर सहयोग प्रदान करते हैं। प्रसन्नता का विषय है कि ये सभी अपनी पूज्या माता श्रीमती राजरानी के निर्देशन में आर्य समाज, गुरुकुल और शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करने के लिये आगे आ रहे हैं। पण्डित जी के ज्येष्ठ पुत्र माननीय श्री सुदर्शन शर्मा जी आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के प्रधान, सार्वदेशिक सभा, दिल्ली के उपप्रधान तथा गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

के कुलाधिपति हैं, उनसे आर्य जगत् को बहुत अपेक्षायें हैं। हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि जिस प्रकार के संस्कार आदरणीय पण्डित जी व पूज्या माता श्रीमती राजरानी ने अपने पुत्रों को दिये हैं, वे उन पर चलते हुए समाज सेवा और देश सेवा करते रहेंगे।

मैं अन्त में-"**यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते**" जिसे अर्थो का आकर्षण अपनी ओर नहीं खींचता है, वह पण्डित है, यह परिभाषा अक्षरश: पण्डित जी पर लागू होती है, वे सच्चे अर्थो में पण्डित थे। अत: पुन: एक बार आदरणीद पं० श्री हरबंसलाल शर्मा के चरणों में विनत श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

अपने पूर्वजों का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करने वाला राष्ट्र, समाज और परिवार उन्नति के शिखर की ओर अग्रसर होता है। गुरुकुल परिवार की यह उदात्त परम्परा रही है कि वह अपने पूर्वजों का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करता रहा है। उसी शृङ्खला में प्रस्तुत स्मृति-ग्रन्थ के माध्यम से हम अपने पूर्व कुलाधिपति श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा का स्मरण कर रहे हैं। मेरे कार्यभार ग्रहण करने के तत्काल पश्चात् इस कार्य को करने के लिये माननीय कुलपति प्रो० स्वतन्त्र कुमार जी ने प्रेरित किया तथा इस कार्य में पूज्य गुरुवर आदरणीय प्रो० वेद प्रकाश शास्त्री ने मेरा पथ-प्रदर्शन किया है। इसमें जो कुछ भी ग्राह्य और उपादेय बन सका है, वह इन्हीं दोनों महानुभावों की प्रेरणा का परिणाम है।

प्रो० ज्ञान प्रकाश शास्त्री
प्रोफेसर एवं निदेशक
श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

विषय-सूची

गुरुकुल शिक्षादर्शन-खण्ड

पं० हरबंसलाल शर्मा: दानी एवं ईश्वरभक्त

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय पण्डित हरवंश लाल शर्मा की स्मृति में एक स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशित करने जा रहा है। श्री शर्मा जी परम ईश्वरभक्त, ऋषि दयानन्द के सच्चे अनुयायी, आर्यसमाज के दृढ़ स्तम्भ, श्रद्धा और मेधा के पुजारी, वेदनिष्ठ, वैदिक संस्कृति के उपासक, उदारमनाः, कर्मठ व्यक्ति थे। जैसे लक्ष्मी की उन पर कृपा थी, वैसे ही वे दानवीर थे। उनके दान का लाभ अनेक संस्थाओं को मिल रहा था। वेदों के प्रति उनका विशेष अनुराग था। अनेक सस्वर वेदपाठियों को उन्होंने पुरस्कृत एवं सम्मानित किया। मेरे प्रति उनका स्नेह वैदिक लेखक होने के नाते विशेष था। हम दोनों एक-दूसरे के प्रशंसक थे। अपने महाप्रयाण से पूर्व वे आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान और गुरुकुल विश्वविद्यालय के कुलाधिपति पद पर आसीन होकर आर्यसमाज और विश्वविद्यालय को लाभान्वित कर रहे थे। उनके अभाव से जो क्षति हुई है, वह अपूरणीय है। मैं उस महामानव के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

सुकर्मा स महादानी वेदप्रेमपयोनिधिः।
मूर्धन्यश्च यशस्वी च श्रद्धापुष्पैर्नमो नमः॥

आचार्य रामनाथ वेदालङ्कार
विद्यामार्तण्ड, एम०ए०, पी-एच०डी०
वेदमन्दिर, ज्वालापुर (हरिद्वार)
पिन-२४९४०७
दि०२८-१-२००३

पं० श्री हरबंसलाल शर्मा: एक स्मरणीय व्यक्तित्व

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के दिवंगत प्रधान पं० हरबंसलाल शर्मा अपनी पाञ्चभौतिक काया को त्याग कर दिवंगत हो गये किन्तु उनकी अमल, धवलकीर्ति अक्षुण्ण है। मेरा उनसे पुराना सम्बन्ध था और अनेक स्थानों पर भेंट का अवसर भी मुझे मिला था। आर्यसमाज और ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों के प्रति उनके हृदय में सच्ची लगन थी। गुरुकुल काँगड़ी की उन्नति के वे इच्छुक थे तथा आर्यसमाज के यश की वृद्धि के लिये उन्होंने अपना तन-मन-धन न्यौछावर किया था। **'कीर्तिर्यस्य स: जीवति'** की उक्ति के अनुसार उनकी यश:काया आने वाले समय तक यथापूर्व लोगों का मार्गदर्शन करती रहेगी।

मेरी विनम्र श्रद्धाञ्जलि-

डॉ. भवानीलाल भारतीय
सेवानिवृत्त अध्यक्ष एवं प्रोफेसर
दयानन्द शोधपीठ, पंजाब विश्वविद्यालय
सदस्य-परोपकारिणी सभा
(स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित)
प्रबन्ध सम्पादक-परोपकारी मासिक
अध्यक्ष-आर्य लेखक परिषद्

दानवीर एवं कर्मवीर: पं० श्री हरबंसलाल शर्मा

प्रो० स्वतन्त्र कुमार

महापुरुषों एवं सामान्यजनों में प्राय: एक अन्तर पाया जाता है कि सामान्यजन जहाँ अपने लिये जीते हैं, वहाँ महापुरुषों का जीवन दूसरों के लिये होता है। इसके अतिरिक्त जो स्व-पर भेद से ऊपर उठ जाता है, वही मनुष्य कहलाने का अधिकारी है।

धर्म वह नहीं है, जो दूसरों को उपदेश में दिया जाता है, बल्कि धर्म वह है, जो स्वयं आचरण में लाया जाता है। इसलिये कहा भी गया है-"**आचार: परमो धर्म:**"। श्रद्धेय हरबंसलाल शर्मा भी इसी प्रकार की एक विभूति थे। वे निरन्तर आर्यसमाज और आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रति समर्पित रहते हुए दानादि कार्य किया करते थे, लेकिन इस प्रकार के कार्यों से उनकी यश प्राप्त करने की इच्छा बिल्कुल भी नहीं थी। एक बार की बात है कि मैं उनसे मिलने गया और मैं जब चलने लगा उन्होंने मेरी कार में एक बण्डल डाल दिया, मेरी दृष्टि उस पर गयी और देखा तो पाया कि दो लाख रूपये हैं। मैंने उनसे कहा कि ये रूपये किसलिये डाल दिये तो उन्होंने कहा कि किसी अच्छे काम में लगा देना, पर मैंने कहा कि यह काम तो आप स्वयं भी कर सकते हैं, आप मुझे इस प्रकार के कार्य में क्यों फँसा दिया करते हो। इसके बाद मैं उनके घर गया और आदरणीया माता जी एवं श्रद्धेय शर्मा जी को समझाया कि दान को स्वयं अपने हाथों से करना चाहिये। बड़ी कठिनाई से वे स्वयं अपने हाथ से दान करने को तैय्यार हुए और हम सब लोग मिलकर हरिद्वार आये। उन दिनों कुम्भ चल रहा था, हम लोगों ने ३०-३५ हलवाई रक्खे और उनसे नाश्ता तैय्यार करवाकर प्रात:काल आश्रमों में भिजवा दिया करते थे। इस प्रकार के नि:स्पृह हमारे आदरणीय कुलाधिपति जी थे।

अमरशहीद पं० लेखराम आर्य महिला महाविद्यालय की स्थापना

कादियाँ में पं० लेखराम स्मारक है, उक्त स्मारक के तत्त्वावधान में आयोजित एक सभा की अध्यक्षता परमपूज्य स्वामी सर्वानन्द जी कर रहे थे। लोगों ने प्रार्थना की कि यहाँ एकमात्र मुस्लिम कालेज है और हमारी लड़कियाँ उसमें पढ़ने जाने के लिये विवश हैं। कोई अन्य व्यवस्था होनी चाहिये। कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहे स्वामी सर्वानन्द जी ने कहा कि पण्डित जी लोग आपकी तरफ देख रहे हैं, तुरन्त पण्डित हरबंसलाल जी ने ढाई लाख रुपये दान देने की घोषणा कर दी, न केवल घोषणा की अपितु जनता को भी दान देने के लिये प्रेरित किया, उनकी वाणी का ही यह पुण्य प्रताप था कि उसी समय महिला महाविद्यालय की स्थापना के लिये आठ लाख रुपये दान में आगये और उसी दिन अमर शहीद पं० लेखराम आर्य महिला महाविद्यालय की आधारशिला रख दी गयी। जिसकी वाणी कर्म के अनुरूप होती है या यह कह सकते हैं कि जिसके मन, वचन और कर्म में समानता होती है, वही आचारवान् है और आचरण ही परमधर्म माना जाता है। इस प्रकार के आचारवान् व्यक्ति अहंकार और ममत्व से परे होकर जब लोक कल्याण हेतु आह्वान करते हैं तब मनुष्यों की कौन कहे प्रकृति स्वयं उस कार्य को पूरा करने के लिये कृतसंकल्प हो जाती है। और उनके द्वारा हाथ में लिया गया कार्य देखते ही देखते पूरा हो जाता है।

कारगिल के शहीदों को दान

आदर्श भारती कालेज, पठानकोट में कारगिल शहीदों के सम्मान में श्रद्धाञ्जलि सभा का आयोजन किया गया था। उसमें पंजाब केसरी के मुख्य सम्पादक श्री विजय चोपड़ा जी आये थे, उसमें पं० हरबंसलाल जी भी आए हुए थे। हम लोग कारगिल शहीदों के सहायतार्थ नौ लाख रुपये दे रहे थे, पण्डित जी को जब यह मालूम पड़ा तो तुरन्त दो लाख रुपये का चैक देकर उस धनराशि को ११ लाख कर दिया। ऐसे थे पं० हरबंसलाल जी शर्मा, जो दान देने का कोई भी मौका अपने हाथ से निकलने नहीं देते थे।

आधुनिक युग के भामाशाह

दान देने की उज्ज्वल परम्परा का निर्वाह करने वाले पं० हरबंसलाल जी शर्मा आधुनिक युग के भामाशाह थे। एक बार की बात है कि परमपूज्य स्वामी सर्वानन्द जी के लिये अरमदा (Armada) गाड़ी देने का निश्चय किया। जो लोग गाड़ी देना चाहते थे, वे गाड़ी के मूल्य का एक चौथाई ही धन इकट्ठा कर सके, वे मेरे पास आये मैंने शेष धन का कुछ भाग दान से और ऋण लेकर गाड़ी की व्यवस्था कर दी और हम लोगों ने निश्चय किया कि इस गाड़ी की चाबी पं० हरबंसलाल जी शर्मा परमपूज्य स्वामी सर्वानन्द जी को सौंपेंगे। लेकिन जब पं० हरबंसलाल जी शर्मा को मालूम पड़ा कि यह गाड़ी कर्जा लेकर खरीदी गयी है तो उन्होंने कहा कि कर्जेवाली गाड़ी थोड़े ही मैं स्वामी जी को दूँगा। उन्होंने जितना कर्जा लिया गया था, उसका अपने पास से भुगतान करके स्वामी जी को गाड़ी की चाबी सौंपी।

रणजीत सागर डैम नगर में आर्यसमाज की स्थापना पं० हरबंसलाल जी शर्मा का सम्पूर्ण जीवन दान देने वाली घटनाओं से भरा हुआ है। ऐसी ही एक बार की घटना है कि पं० हरबंसलाल जी शर्मा ने पठानकोट के रणजीत सागर डैम नगर में आर्यसमाज की स्थापना के लिये पचास हजार रुपये दान दिये, वे उन रुपयों को रखने के लिये अत्यन्त वृद्ध और जो खाट पकड़ चुके थे, जिनका चलना-फिरना बन्द था ऐसे श्री गिरधारीलाल जी गुप्ता के आवास पर गये, आदरणीय गुप्ता जी ने उस रोग और वृद्धावस्था की स्थिति में उनके पास जो था, वह उसमें और मिला दिया, इस बात से श्रद्धेय पंडित जी इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने तत्काल पचास हजार रुपये और निकाल कर दे दिये।

आचार्य मनु ने कहा-

"सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।" (मनु० २.१६२.)

कि ब्राह्मण को सम्मान से उसी प्रकार दूर रहना चाहिये, जिस प्रकार लोग विष से दूर रहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सम्मान अथवा यश की इच्छा से शुभ कार्य भी नहीं करना चाहिये। दान तो विशेष रूप से इस प्रकार किया जाना चाहिये कि एक हाथ दान करे

तो दूसरे हाथ को उसका पता भी नहीं लगना चाहिये और यह विशेषता मूर्तिमान् रूप में आदरणीय हरबन्सलाल शर्मा में थी। वैसे तो आजकल लोगों में दान देने की प्रवृत्ति के दर्शन ही नहीं होते हैं, यदि कोई कुछ थोड़ा-बहुत दान भी करता है तो वह अपना नाम पत्थरों पर खुदा हुआ देखना चाहता है। परन्तु आदरणीय शर्मा जी एक अच्छी खासी रकम दान देने के बाद भी अपना नाम तो दूर, अपने हाथ से दान भी नहीं करना चाहते थे। उनका सोचना रहा है कि अपने हाथ से दान करने से अहंकार बढ़ता है और उससे बचने का अच्छा तरीका वे यह मानते थे कि स्वयं अपने हाथ से दान न दिया जाये। नहीं तो प्रायः पुण्य की चाह में व्यक्ति दान देने के अहंकार में चूर होकर ऊपर उठने के बजाय पतन के गर्त में धँसता चला जाता है।

केवल आदरणीय शर्मा जी ही नहीं, अपितु उनका समस्त परिवार इस प्रकार के आदर्शों के प्रति समर्पित रहा है। परिवार के सभी सदस्य अपनी आय में से दान निकालकर ट्रस्ट में जमा करते रहते हैं। एक बार कुछ दिनों तक यह सुनने को नहीं मिला कि पिता जी ने कहीं दान दिया है। वे पूछते हैं कि पिता जी की क्या बात है कि आजकल आप दान नहीं कर रहे हैं, कहीं ऐसा तो नहीं सोच रहे हैं कि हमारा भुगतान जो बाहर से आता है, नहीं आया है, कहीं इस कारण तो आपने आजकल दान देना बन्द नहीं कर दिया है। यह एक ऐसा उदारहण है, जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दान देना इस परिवार का स्वभाव है। दान न देने पर इस परिवार के लोगों को बैचेनी होने लगती है, आज के भौतिकतावदी और स्वार्थी संसार में ऐसा चरित्र विरले ही देखने को मिलता है।

यह सत्य है कि आज आदरणीय हरबंसलाल शर्मा जी हमारे बीच नहीं हैं, लेकिन जिन मान्याताओं और आदर्शों को उन्होंने अपने जीवन में जिया, जिनके लिये वे समर्पित रहे, उनका दर्शन हम श्रद्धेय शर्मा जी के न केवल भौतिक सम्पत्ति के अपितु दैवी सम्पदा के भी उत्तराधिकारी, वर्तमान में गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति माननीय सुदर्शन शर्मा जी में कर सकते हैं। वे अपने पिता की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। **''आत्मा वै जायते पुत्रः''** का वे आदर्श प्रतिरूप हैं। वे न केवल आदर्श पुत्र हैं, अपितु वे आदर्श पिता हैं, समाज सुधारक हैं,

महर्षि दयानन्द और उसके मिशन के प्रति समर्पित हैं। वे इस गुरुकुल को श्रद्धानन्द का गुरुकुल देखना चाहते हैं। उनके पास ऐसी दृष्टि है, जिसमें प्राच्य विद्या के प्रति ललक है तो वहीं वर्तमान की चुनौतियाँ से जूझने के लिये अपेक्षित दूरदृष्टि भी है।

इस गुरुकुल की नींव रखने में जहाँ पंजाब में आया आर्यसमाज का आन्दोलन उत्तरदायी है, वहीं उस चेतना को साकार करने में जालन्धर की महती भूमिका रही है। महर्षि दयानन्द के सपनों का गुरुकुल साकार करने वाले आचार्य मुंशीराम से लेकर वर्तमान में विश्व में देश का सिर उँचा कर सकने में सक्षम योग्य नागरिक देने की दिशा देने वाला नेतृत्व यदि कहीं से प्राप्त हो रहा है तो वह जालन्धर की पुण्यभूमि है। वर्तमान में गुरुकुल के कुलाधिपति श्री सुदर्शन शर्मा अपने सुयोग्य नेतृत्व से प्राचीन भारतीय परम्परा को अपने में आत्मसात् करने वाली गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति के साथ-साथ युग की अपेक्षा के अनुरूप गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की दिशा निर्देशित कर रहे हैं। यही एक मार्ग है जिस पर चलकर वे गुरुकुल परम्परा के प्रति समर्पित रहते हुए अपने पिता की उज्ज्वल कीर्ति को अक्षुण्ण कर सकते हैं।

प्रो० स्वतन्त्र कुमार
कुलपति
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार.

आह! पण्डित जी

दिल्ली से तीन दिन के बाद लौटा तो यह दु:खद समाचार मिला कि आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पं. हरबंसलाल शर्मा नहीं रहे। वह काफी दिनों से बीमार चले आ रहे थे कि हृदयगति रुकने से उनका देहान्त होगया। पिछले सप्ताह उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री सुदर्शन शर्मा जी से एक समारोह में भेंट हुई थी तो उन्होंने मुझे बताया था कि **'पण्डित जी आपको याद करते हैं।'** मैंने कहा कि दिल्ली से लौटकर उनसे मिलने आऊँगा। डायरी में नोट भी किया कि बुधवार को पंडित जी से मिलना है, लेकिन लौटकर यह दु:खद समाचार मिला कि उनका स्वर्गवास हो गया है।

पंडित हरबंसलाल शर्मा और उनके परिवार के साथ हमारा बहुत पुराना सम्बन्ध रहा है। आदरणीय वीरन्द्र जी के वे साथी थे और उन्हें सभा का उपप्रधान भी बनाया गया। पंडित जी का सम्बन्ध उस पीढ़ी से था जिसने समाज के प्रति बहुत योगदान डाला था। पैसा बहुत से लोगों के पास होता है, लेकिन बहुत कम ऐसे लोग होते हैं जो पंडित जी की तरह स्वयंसेवी संस्थाओं में इसे इस प्रकार खुला बाँटते हैं। पंडित जी के दर से कोई भी खाली हाथ नहीं लौटा। आर्य समाज से उनका विशेष लगाव था और प्रधान बनकर उन्होंने इस संस्था को मजबूत करने में योगदान दिया। अब उनके बाद एक बार फिर खाली नजर आता है। यह बहुत बड़ी संस्था है, जिसे चलाने के लिये लगन, परिश्रम व ईमानदारी की जरूरत है।

मुझे इस बात की खुशी है कि सुदर्शन जी और उनके भाई अपने पिता की तरह बहुत नेक विचारों के हैं। पंडित जी कई बार यह जिक्र किया करते थे कि बड़ा परिवार होने के बावजूद बिना किसी तनाव के सब एक ही छत के नीचे रहते हैं। ऐसे मिसाल आजकल बहुत कम देखने को मिलते हैं। इसका कारण भी यही है कि श्री और श्रीमती हरबंसलाल शर्मा ने अपने पुत्रों में ऐसे संस्कार भरे हैं, जो आज की सामाजिक परिस्थितियों में भी उन्हें इकट्ठा रखे हुए हैं। पंडित जी के देहान्त से समाज में एक शून्य पैदा हो गया है, जिसे भरना बहुत मुश्किल होगा। मैं उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

चन्द्र मोहन
दैनिक वीर प्रताप

दानशिरोमणि: पं० हरबंसलाल शर्मा

प्रो० वेद प्रकाश शास्त्री

दिने दिने भुवनतलं स्वकर्मविपाकात् समवतरन्ति जीवा: भुवनमभ्यागतेषु जीवेषु केचन भवन्ति सन्त: तप:पूतान्त:करणा:, परोपकारनिरता:, सर्वलोकहितभावभूषिता:; केचन च मलीमसान्त:करणा:, अपुण्यकर्मरता:, परदु:खप्रदाननिपुणा: भवन्तु। ये सन्मार्गमनुसरन्ति विदुषां सतां सङ्गतिं च लभन्ते स्वजीवने यज्ञभावं भावयन्ति त एव जना: संसारे न केवलं देहेनापितु यशसापि स्वमहिमानं विष्वक् प्रसारयन्ति।

पञ्चनदभूरियं धन्या यस्यां भुवि दानशिरोमणिना पं० हरबंसलाशर्मणा जनिरलम्भि। केषाञ्चित्पुरुषाणां जीवनमुदात्तगुणा: तारुण्ये संस्पृशन्ति, केषाञ्चित् जीवनं वार्धक्ये संस्पृशन्ति परं पं० श्री हरबंसलालशर्मणां जीवनं बाल्यकालादेव बहुभिर्गुणै: संस्पृष्टम्। एकोऽपि गुणो मानवजीवनं लोकोत्तरतां नेतुं क्षम:। यत्र बहवो गुणा: युगपदेव विलसन्ति तज्जीवनं तु तस्य पुंसोऽलौकिकमाभां विष्वक् प्रसारयति। श्रूयते यद्बाल्यकालादेव श्री पं० हरबंसलालशर्मा एकं धनपतिमुपेत्य दानं प्रयच्छन्तं तमपश्यत्। तद्दानवृत्तिं समवलोक्य अस्य बालकस्य चेतसि दानभाव: प्रादुर्भूत:। बालकेनानेन चिन्तितं यथायं धनवान् अस्ति तथाहमपि धनवान् स्याम्। यथा चायं नित्यं अभ्यर्थिनं ददाति तथैव अहमपि दातृभावं नित्यमाप्नुयाम। सैव प्रार्थना अमीषां पण्डितप्रवराणां जीवने फलवती नतेव वृद्धिमुपगता। दानवृत्तिं विवृण्वता अनेन सतां धुरीणेन शनै:शनै: पञ्चनदप्रदेशे अपरस्मिन् च प्रान्ते प्रतिष्ठा प्रार्जिता। अमीषां जीवने यज्ञपरम्परा तथैव प्रवर्धते यथा कृतयुगे शास्त्रेषु वर्णनमुपलभ्यते। आर्यसमाजमुन्नेतुं दानशिरोमणिना बहुत्र बहुलतया यथाकालं धनदानमकारि। गुरुकुल-काँगड़ी-विश्वविद्यालयं अभिवर्धयितुं तै: समये समये प्रशस्यं प्रभूतं धनं दत्तम्। भारतवर्षे यान्यपि गुरुकुलानि वैदिकपरम्परा प्रसारणे सञ्चलन्ति तानि सर्वाणि गुरुकुलानि एभि: संवर्धितानि।

आर्यप्रतिनिधिसभा, पञ्चनदप्रान्तस्य कोषाध्यक्षपदम्, उपप्रधानपदं चिरं समलङ्कृत्य अध्यक्षपदमपि एभिरलङ्कृतम्। तदैव गुरुकुल-काँगड़ी-विश्वविद्यालयस्य सर्वोच्चं कुलाधिपतिपदमपि समलङ्कृतम्। अस्य महतः सर्वमपि जीवनं दानवृत्तिभावविभूषितमासीत्। एतान् महानुभावान् दर्शं दर्शं सर्वेऽपि सामाजिका आर्यजनाः मोदं प्रमोदमावहन्ति स्म। अमीषां विषये पद्यद्वयं सार्थकतां आवहति-

वदनं प्रसादसदनं सदयं हृदयं सुधामुचोवाच।
करणं परोपकरणं येषां केषां न ते वन्द्याः॥
धनिनोऽपि निरुन्मादाः युवानोऽप्यचञ्चलाः।
प्रभवा अप्यप्रमत्तास्ते महामहिमशालिनः॥

एवंभूतान् स्मरणीयान् स्तुत्यान् देवकल्पान् सकलजगत्वन्द्यान् महतो वारं वारं नुमः।

प्रो० वेदप्रकाशशास्त्री
आचार्य एवं उपकुलपति
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार-२४९४०४

शिक्षाजगत् के उज्ज्वल नक्षत्र: श्री पं० हरबंसलाल शर्मा

श्री पं० हरबंसलाल शर्मा जी में मानव सेवा की भावना कूट-कूट भरी हुई थी, यही कारण था कि जब कोई जरूरतमन्द उनके पास आया, उन्होंने उसकी भरपूर सहायता की। उनकी इस विशेषता ने न केवल पंजाब में अपितु समस्त भारत में श्री पं० हरबंसलाल शर्मा जी की प्रतिष्ठा आर्यसमाज के भामाशाह के रूप में हो गयी। उनकी कीर्ति का मुख्य कारण यह था कि वह दूसरे की आवश्यकता को अपनी आवश्यकता समझकर पूरी करने का प्रयास करते थे। यदि मानव को मानव कहे जाने का कोई एक गुण बताया जा सकता है तो वह दूसरे को दर्द को अपना समझना है और समझकर उसके अनुरूप सहायता और सहयोग प्रदान करना है। इस दृष्टि से श्री पं० हरबंसलाल शर्मा जी को आधुनिक युग का महामानव कहा जा सकता है।

आर्य समाज और शिक्षा क्षेत्र के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। वे आर्य समाज की शिरोमणि सार्वदेशिक सभा, दिल्ली के उपप्रधान रहे, आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के लगभग दो दशक तक अधिकारी रहते हुए विभिन्न पदों का कुशलतापूर्वक संचालन किया। जीवन के अन्तिम ७ वर्षों तक आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के सर्वसम्मति से प्रधान चुने जाते रहे और गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार के कुलाधिपति बने तथा यह गौरव भी श्री पं० हरबंसलाल शर्मा जी को ही जाता है कि उन्हींके नेतृत्व में गुरुकुल ने सफलतापूर्वक अपनी शताब्दी मनायी।

श्री पं० हरबंसलाल शर्मा जी का गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय से विशेष लगाव था. वे प्राय: गुरुकुल के वार्षिकोत्सव में भाग लेने आया करते थे। उनका मानना था कि मेधावी छात्रों की शिक्षा संसाधनों की कमी के कारण अधूरी नहीं रहनी चाहिये। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु वे भरपूर आर्थिक सहायता प्रदान किया करते थे। इस प्रकार की सहायता पाने वाला यह इकलौता गुरुकुल नहीं था, करतारपुर (जालन्धर) आदि अनेक गुरुकुलों की वे आर्थिक मदद

किया करते थे। इसके अतिरिक्त आदरणीय श्री पं० हरबंसलाल शर्मा जी ने भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार हेतु देश-विदेश की अनेकों यात्राएँ कीं, आर्य समाज के उत्सवों तथा अनेकों सम्मेलनों में भाग लेकर भारतीय संस्कृति की पताका को दूर-दूर तक फहराया है।

विधि का विधान अटल है, हमेशा दूसरों की चिन्ता करने वाला, उनके दु:ख में दु:खी में होने वाला, सरस्वती साधकों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला २ दिसम्बर २००२ को अपनी जीवन यात्रा पूरी करके चिरनिद्रा में लीन हो गया। उनके इस प्रकार अचानक चले जाने से न केवल उनका परिवार, न केवल आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, न केवल गुरुकुल काँगड़ी का परिवार, अपितु समस्त आर्य जगत् स्तब्ध रह गया। उनके इस आकस्मिक निधन से जो शून्य पैदा हुआ है, उसको भर पाना सम्भव नहीं है। लेकिन जिस प्रकार अन्धकार के पश्चात् सूर्य का उदय होता है, उसी प्रकार पण्डित जी के आकस्मिक निधन से जो शून्यता पैदा हुई है, उसको भरने के लिये कोई और नहीं, श्री पं० हरबंसलाल शर्मा जी के तीनों पुत्र श्री सुदर्शन शर्मा जी, श्री सुरेश जी तथा श्री नरेश जी जो पहले से ही आर्य समाज से जुड़े हुए हैं, अपने पिता जी के द्वारा छोड़े गए मिशन को पूरा करने के लिये कृतसंकल्प हैं। प्रसन्नता का विषय है कि ये सभी अपनी पूज्या माता श्रीमती राजरानी के निर्देशन में आर्य समाज, गुरुकुल और शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करने के लिये आगे आ रहे हैं। समस्त आर्य जगत् उनकी ओर आशा भरी नजर से देख रहा है। आशा है कि ये सभी उनके पुत्रगण तथा हम सभी गुरुकुलवासी श्री पं० हरबंसलाल शर्मा जी के आदर्शों पर चलते रहेंगे, जिससे पण्डित जी के आदर्शों और उद्देश्यों को पूरा किया जा सके।

प्रो० अशोक कुमार चोपड़ा
कुलसचिव
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

तुम सदा याद रहोगे

देवेन्द्र शर्मा

पं. हरबंसलाल जी शर्मा भारत मां के ऐसे सपूत थे, जिन्हें कोई भुला न पाएगा। यों तो आर्य समाज में अनेक दानी, महादानी, नेता व विद्वान् व साधु संन्यासी व आर्यसमाज की सेवा करने वाले महर्षि दयानन्द के अनन्य भक्त अनेकों हुए हैं। मैं उन सब का हृदय से सम्मान करता हूँ। सभी में बहुत सी विशेषताएँ थीं, जितना उनसे समाज सेवा का कार्य हो सका, उन्होंने किया। परन्तु श्री पं. हरबंसलाल जी शर्मा में अपनी तरह की विशेषताएँ थीं। उन्होंने अपने आपको आर्य समाज का नेता नहीं कहा, न अपने आपको बहुत बड़ा विद्वान् कहा, न कभी अपने आपको बहुत बड़ा दानी कहा और न ही बहुत बड़ा धनी कहा। घमण्ड उनको छू तक भी नहीं पाया था। वे १९९४ से निरन्तर आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान चले आ रहे थे। वे इतने लोकप्रिय थे कि हर बार सर्वसम्मति से प्रधान चुने जाते रहे और वे पिछले नौ वर्ष से लगातार सभा के प्रधान चले आ रहे थे, परन्तु उन्होंने कभी भी सभा के किसी कर्मचारी पर या किसी कार्यकर्त्ता पर कभी अपना कोई रौब नहीं झाड़ा।

हमने दान देने वाले बहुत व्यक्ति देखे हैं। आर्यसमाज में भी दानी-मानी महानुभावों की कमी नहीं है, परन्तु उनका दान देने का ढंग ही निराला था। वह विद्वानों, संन्यासियों, महात्माओं का बहुत मान करते थे। जब भा वे किसी आर्यसमाज के उत्सव पर जाते थे तो उस आर्य समाज में जितने विद्वान् वहाँ उत्सव में आये होते थे सभी को कभी पाँच-पाँच सौ रुपये, कभी इससे भी अधिक देते थे। सर्दी की ऋतु में कम्बल उनकी गाड़ी में पड़े होते थे, सभी विद्वानों को कम्बल व अन्य गर्म वस्त्र देना उनका मुख्य कार्य था। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की ओर से भी गरीब लोगों को देने के लिये कम्बल मँगवाना, यह उनका प्रतिवर्ष का कार्य था।

वे आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब तथा उससे सम्बन्धित सभी शिक्षण संस्थाओं की उन्नति चाहते थे, परन्तु वे कभी भी किसी संस्था के कार्य में कोई दखल नहीं देते थे। वे धनी थे परन्तु उनमें धनियों वाला कोई घमण्ड नहीं था। वे आर्यसमाज के उच्च नेता थे। सार्वदेशिक सभा व आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के चिरकाल तक उच्च अधिकारी बने रहे, परन्तु उन्होंने कभी अपने आपको नेता प्रदर्शित नहीं किया। उन्होंने निष्काम भाव से आर्य समाज की सेवा की।

उनकी गुरुकुलों के प्रति बड़ी आस्था थी, इसीलिये वे गुरुकुल करतारपुर की आजीवन सेवा करते रहे और इस गुरुकुल प्रधान भी थे। एक बार उन्होंने भारत के समस्त गुरुकलों की सूची मंगवाकर सभी गुरुकुलों को दस-दस हजार रुपये की राशि ड्राफ्ट बनवाकर भिजवा दी। आज पण्डित जी हमारे बीच नहीं रहे, परन्तु जो भी मिलता है, वह यही बताता है कि उन्होंने कितने मुक्त हस्त से दान किया। वह दान देते समय अपने परिवार के सदस्यों से कभी सलाह नहीं करते थे, जो उनके मन में आया या जो उन्हें अन्दर से प्रेरणा हुई बिना कुछ सोचे समझे वह राशि दे डाली। वे घोषणाएँ नहीं करते थे, बल्कि कार्य करके दिखाया करते थे।

३० नवम्बर २००२ को मैं पं. धर्मदेव जी और सुधीर जी शर्मा लुधियाना दयानन्द मैडिकल कालेज हस्पताल में मिलने गये। वे बहुत स्वस्थ नजर आ रहे थे। उन्होंने मेरी तथा श्री सुधीर शर्मा की पीठ थपथपाई और आशीर्वाद दिया। उनसे चलने की आज्ञा लेकर और आदरणीय सुदर्शन जी से मिलकर हम वापिस जालन्धर आ गये। यह उनके अन्तिम दर्शन थे, यह हमें उस समय पता नहीं था। आज सभी उन्हें याद करते हैं और सदा करते रहेंगे। वह देवता स्वरूप पं. हरबंसलाल जी शर्मा हमें हमेशा याद आते रहेंगे।

देवेन्द्र शर्मा
रजिस्ट्रार आर्य विद्या परिषद्

कीर्तिर्यस्य स जीवति

प्रो. महावीर

परिवर्तनि संसारे मृत: को वा न जायते।
स जातो येन जातेन वंश: याति समुन्नतिम्॥

धन्य है वह माता और धन्य हैं वे पिता जिनकी कोख से बालक हरबंसलाल शर्माने जन्म लिया था, जिनके वात्सल्यपूर्ण आंचल में इस होनहार बालक का शैशव बाल्यवस्था की ओर अग्रसर हुआ था। चन्द्रमा की कलाओं की तरह वृद्धि को प्राप्त करता हुआ यह बालरूप किशोरावस्था के युवावस्था को प्राप्त हुआ। ध्येयनिष्ठ इस युवक ने श्रमनिष्ठा, सत्यनिष्ठा एवं योग्यता से एक नया इतिहास रच डाला। अनन्त क्षितिज को स्पर्श कर लेने की अदम्य कामना से वीरभूमि पंजाब के इस पुत्र ने कुछ ऐसा कर दिखाया कि सब विस्मित हो गये। सहज, सरल, निश्छल मानव, ईश्वरभक्ति, परोपकार, करुणा, दया आदि गुणों से किस प्रकार महापुरुषों की श्रेणी में अपना स्थान बना लेता है, इसके जीवन्त निदर्शन थे पण्डित जी। वेद में कहा गया है-

पृथक् प्रायन् प्रथमा देवहूतयो। अकृण्वत श्रवस्यानि ये दुस्तरा॥

अर्थात् देवों को हवि प्रदान करने वाले मानव सांसारिक लोगों से पृथक् होते हैं, वे ऐसे अद्भुत कार्य कर दिखाते हैं, जो सुनने वालों को विस्मित कर देते हैं। पं० हरबंसलाल शर्मा ऐसी ही महामानव थे। परमात्मा ने उनको अनेक प्रकार का ऐश्वर्य प्रदान किया। वे पंजाब के शीर्षस्थ उद्योगपति थे, लक्ष्मी की उन पर अपार कृपा थी, धन तो न जाने कितने धनवानों के पास होता है, किन्तु पण्डित जी का धन-वैभव, महाकवि कालिदास के शब्दों में-'**त्यागाय सम्भृतार्थानाम्**' अर्थात् धन अर्जन त्याग के लिये का प्रत्यक्ष उदाहरण था। साधुओं, महात्माओं, ब्रह्मचारियों और विद्वानों को तथा धार्मिक, सामाजिक, शैक्षिक संस्थाओं को मुक्तहस्त से दान देना उनका स्वभाव था। जब-जब राष्ट्र पर कोई संकट आया, चाहे

पाकिस्तान का आक्रमण हो, भूकम्प हो या बाढ़ हो, वे दानवीरों की पङ्क्ति में सदैव अग्रणी रहे। गुरुकुलों और यज्ञों के प्रति उनकी अपार श्रद्धा थी, उनके घर का द्वार और हृदय का द्वार सदैव सबके लिये खुला हुआ था। अपने इन्हीं गुणों के कारण उनकी कीर्ति-सुरभि सर्वत्र व्याप्त रही। वे आर्य समाज के दृढ़स्तम्भ थे। अहङ्कार, द्वेष, ईर्ष्या आदि दुर्गुण उन्हें स्पर्श कर ही नहीं सकते थे। वे अजातशत्रु थे। अत एव आर्य जनों ने उन्हें आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के प्रधान और गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार के कुलाधिपति पद पर प्रतिष्ठित किया था। मेरा यह परम सौभाग्य है कि मुझे कुलसचिव के रूप में उनके कुलाधिपतित्व में कार्य करने का अवसर मिला। अपने छोटों को किस प्रकार मुक्त हृदय से प्यार लुटाया जाता है और आशीर्वादों से तृप्त किया जाता है, यह मैंने उनके विराट् व्यक्तित्व में बार-बार देखा था। वे प्रेम के महासागर थे। पण्डित जी की धर्मपत्नी हमारी पूज्या माता जी भी उसी प्रकार स्नेह की प्रतिमूर्ति हैं। हम सबको अपना पुत्र मानकर स्नेह प्रदान करती हैं। यज्ञादि के प्रति उनकी अविचल निष्ठा को देखकर मस्तक श्रद्धा से उनके चरणों में झुक जाता है। प्रभु ने पण्डित जी को सन्तति इतनी उत्तम दी कि **'आत्मा वै जायते पुत्रः'** की उक्ति चरितार्थ हो रही है। श्रद्धेय पण्डित जी के ज्येष्ठ पुत्र पं० श्री सुदर्शन शर्मा न केवल धन, सम्पत्ति के उत्तराधिकारी हैं, अपितु उनकी आध्यात्मिक सम्पदा के भी उत्तराधिकारी हैं। आज वे आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के प्रधान एवं गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति के रूप में अपने पूज्य पिता जी के कार्यों को आगे बढ़ा रहे हैं। पं० सुदर्शन जी के दोनों अनुज भी उसी उत्तम मार्ग के पथिक हैं। सम्पूर्ण परिवार ईश्वर प्रेम एवं यज्ञों के प्रति श्रद्धा में सराबोर है। सम्पूर्ण भारत में इस परिवार की ख्याति है।

आज श्रद्धेय पं० श्री हरबंसलाल जी शर्मा भौतिक शरीर में हमारे मध्य नहीं हैं, किन्तु उनका कीर्ति शरीर सदा अमर रहेगा। उस दानवीर, परोपकारी, धर्मप्राण महामानव को मेरा शत-शत नमन।

प्रो० महावीर
प्रोफेसर संस्कृत विभाग

आदरणीय पं० हरबंसलाल शर्मा

(२ फरवरी १९२०-२ दिसम्बर २००२)

श्री पं० हरबंसलाल शर्मा का जन्म २ फरवरी सन् १९२० में रुड़का कलां, जिला जालन्धर में एक पौराणिक परिवार में हुआ था। इनके पिता श्री पं० कर्मचन्द जी शर्मा तथा माता श्रीमती लालदेवी बड़े ही धार्मिक विचारों के थे और ये अपने पिता के ज्येष्ठ पुत्र थे। माता-पिता तथा सारे परिवार का प्रभाव श्री पं० हरबंसलाल शर्मा पर पड़ना स्वाभाविक था। इनके मन में भी बालपन से विद्वानों की सेवा की भावना पैदा हो गई और इन्होंने भी आर्य समाज कार्यों में रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया।

श्री पं० हरबंसलाल शर्मा पिछले १६ वर्षों से गुरु विरजानन्द स्मारक समिति ट्रस्ट गुरुकुल करतारपुर, जि० जालन्धर के प्रधान चले आ रहे थे। और इनके प्रधानत्व में इस गुरुकुल ने बड़ी उन्नति की और सारे देश में ख्याति प्राप्त की। पण्डित जी सार्वदेशिक सभा, दिल्ली के उपप्रधान, गत १५ वर्षों से आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के अधिकारी और गत ७ वर्षों से निरन्तर इस सभा के सर्वसम्मति से प्रधान चले आ रहे थे। पंजाब की आर्य जनता ने प्रत्येक बार पण्डित जी को सर्वसम्मति से प्रधान चुना। दिनांक-17-12-2000 को आपको फिर तीन वर्ष के लिये प्रधान चुन लिया था। पंजाब में लगभग १५० आर्यसमाजें, ७० स्कूल और २० कालेज चल रहे हैं, जिनका प्रबन्ध आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब देख रही है। श्री पं० हरबंसलाल शर्मा एक महान् दानी व्यक्ति थे। इन्हें लोग पंजाब के भामाशाह भी कहते थे। सामाजिक व धार्मिक कार्यों के लिये तो यह दान देते ही रहते थे, परन्तु यदि देश पर कभी विपत्ति आई और देश को धन की आवश्यकता हुई तो पण्डित जी कभी पीछे नहीं रहे। कारगिल युद्ध और गुजरात भूकम्प राहत कोष के लिये पण्डित जी ने प्रधानमन्त्री राहत कोष में लाखों रुपये दान में दिये। भारत में सभी प्रान्तों के आर्य बन्धु इन्हें भलीभाँति जानते हैं। आपने अपनी मृत्यु से कुछ समय पूर्व लन्दन, पैरिस, हालैंड, स्विटजरलैंड, वेल्ज और

स्काटलैंड तथा दूसरे कई देशों में अपनी धर्मपत्नी श्रीमती राजरानी सहित भ्रमण किया, वहाँ विदेशों में कई आर्य समाजों के उत्सवों व सम्मेलनों में भी भाग लिया।

गुरुकुलों के प्रति इनकी विशेष श्रद्धा रही है। शायद ही ऐसा भारत का कोई गुरुकुल होगा, जिसको इन्होंने सहायता राशि न भेजी हो। यज्ञ के प्रति इनकी विशेष श्रद्धा थी, इन्होंने अपने घर ४०६, एल मॉडल टाउन, जालन्धर में एक बहुत सुन्दर यज्ञशाला का निर्माण कराया है। जहाँ आप गौशालाओं को दान देते रहे वहीं अपने घर पर भी गौशाला बनाई हुई है। इनके इन सभी कार्यों में सारा परिवार पूर्ण सहयोगी रहा है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि आप आर्य जगत् में लोहपुरुष के रूप में माने जाने वाले एवं सभा के त्रिशाखन से पूर्व आर्य प्रतिनिधि सभा में कोषाध्यक्ष एवं महामन्त्री के पद पर कार्यरत रह चुके श्री पं० मुरारीलाल शर्मा जी के भतीजे हैं। अब श्री पं० मुरारीलाल शर्मा जी के सुपुत्र श्री देवेन्द्र शर्मा प्रस्तोता (रजिस्ट्रार, आर्य विद्या परिषद्) के रूप में कार्य कर रहे हैं।

चांसलर वनने के पश्चात् पण्डित जी ने दिनांक-10.04.2001 को गुरुकुल काँगड़ी, हरिद्वार में जाकर अपना पद ग्रहण किया और इस अवसर पर पंजाब, हरयाणा, दिल्ली से पधारे महानुभावों तथा गुरुकुल काँगड़ी के सभी पदाधिकारियों व कर्मचारियों ने इनका भव्य स्वागत किया। इस स्वागत समारोह में आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के कई गणमान्य अधिकारी वहाँ उपस्थित थे। आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के साथ गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय का भी कार्य सुचारु रूप से चल रहा था।

आज आर्य समाज के भामाशाह कहलाये जाने वाले श्री पं० हरबंसलाल शर्मा जी तो हमारे बीच में नहीं हैं, परन्तु उनके किये हुए कार्यों को आर्य समाज सदैव याद रखेगा। उन्होंने गुरुकुल विश्वविद्यालय को एक आदर्श विश्वविद्यालय का रूप दिया और वह आगे भी इस विश्वविद्यालय के कार्य हेतु बहुत सक्रिय थे, ताकि महर्षि स्वामी दयानन्द एवं श्रद्धानन्द के सपने साकार हो सकें।

इन्होंने अपने तीनों सुपुत्रों को आर्य समाज के प्रति समर्पित कर रक्खा है, इनके ज्येष्ठ पुत्र भी श्री सुदर्शन शर्मा सक्रिय रूप से आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब से जुड़े हुए हैं तथा सभा

ने इन्हें अपना प्रधान चुन लिया है और १५ दिसम्बर २००२ को गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तरांचल) का चांसलर चुल लिया गया। ताकि वह अपने पिता जी द्वारा आर्य जगत् में चलाए कार्यों को पूर्ण रूप दे सकें।

पण्डित धर्मदेव

On the first Death Anniversary of Pt. Harbansh Lal Sharma

I Offer My Tribute to Him

As I Know Him

Human wants and wishes are endless. We always pray for riches and Fullfilment from God. But when it comes to giving something, we are not generous enough. We do not realise what we lose by not giving.There are few who realise the sacred nature of giving and so they remain generous in life. Pt Harbansh Lal Sharma was such a person. It is rare to maintain at a higher positoin humility, simplicity and integrity. Again, in this regard too, he was one of such exceptions.Whatever he achieved in life, Panditji considered it to be a gift —a gift from God to pass it on to the people. He religiously performed the act of giving by calling himself merely the postman of God. He had a staunch faith in God and man was his religion. He knew this Vedic teaching well that the best way to pray to God is to serve His creation, to love His creation. In a word, Panditji was intoxicated with the following teaching of the Vedas:

O God! Thou pervadest all souls and noble deeds
Purifying them with Thy stream of benevolence.
Thou art supporter of all good things which give joy
Thou art seated in Thy own nature.
Thou art the Light and Fountainhead of Bliss.

Dr. Shrawan Kumar Sharma
Dept. of English
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404

पं० हरबंसलाल शर्मा: आर्य दानवीर

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि दानवीर पं० हरबंसलाल शर्मा जी की स्मृति में गुरुकुल काँगड़ी एक स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशित करने जा रहा है।

आदरणीय पण्डित जी विधाता की अटल व्यवस्था से अपने प्रिय गुरुकुल को उस समय छोड़कर परलोक सिधारे जिस समय अपना गुरुकुल बड़ी विकट परिस्थिति से गुजर रहा था और उनके अनुपम व्यक्तित्व की गुरुकुल-माता को परम आवश्यकता थी। पूज्य पण्डित जी की श्रेणी के आर्यसमाज के सेवक, गुरुकुल के स्तम्भ और संसार के उपासक आर्य जन धीरे-धीरे हमारे मध्य से चले जा रहे हैं। ऐसे आदर्श आर्य दानवीरों की गुरुकुल तथा समाज को परम आवश्यकता है। पूज्य शर्मा जी की श्रद्धाञ्जलि में यह पद्य समर्पित कर रहा हूँ-

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्,
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे,
हा हन्त! हन्त! नलिनीं गज उज्जहार॥

सुदर्शनदेव आचार्य
अध्यक्ष-संस्कृत-सेवा-संस्थान,
७७६/हरिसिंह कालौनी,
रोहतक (हरियाणा)

श्री पं० हरबंसलाल शर्मा: एक आदर्श व्यक्तित्व

श्री पण्डित हरबंसलाल शर्मा देश विभाजन के पश्चात् १९४७ में पाकिस्तान बने भारत से विस्थापित होकर जालन्धर पधारे- पश्चिमी पंजाब में रहते हुए वह आर्यसमाज के कार्य में सक्रिय रुचि रखते थे, गुरुकुल पोठोहार के आचार्य श्री रामदेव जी जो संन्यास लेने के पश्चात् स्वामी सत्यानन्द जी के नाम से जाने गए उनसे पं० हरबंसलाल शर्मा का पहिले से ही सम्पर्क था। मेरा श्री पण्डित जी से स्वामी सत्यानन्द जी द्वारा १९४८ में ही परिचय हो गया- श्री पण्डित जी के चाचा पण्डित किशनचन्द तथा पण्डित मुरारीलाल जी ने हमारे निवास स्थान के पास ही अपनी एक चक्की लगाई-वह भी पक्के आर्यसमाजी थे। श्री पण्डित किशनचन्द जैसा श्रद्धालु, कर्मठ नेक सिद्धान्तों पर दृढ़ आस्थावान् लगनशील आर्यसमाजी आज के युग में दुर्लभ है। श्री पण्डित किशनचन्द जी दलित वर्ग में आर्यसमाज के कार्य को फैलाने के लिये समर्पित थे। उन्होंने जालन्धर के इर्द-गिर्द गढा तथा भार्गव कैम्प में आर्यसमाज बनाई। श्री पं० हरबंसलाल शर्मा जी में भी अपने चाचा श्री पण्डित किशनचन्द की तरह आर्यसमाज के प्रति सच्ची लगन तथा निष्ठा थी।

श्री पं० हरबंसलाल शर्मा जी जीवन के आरम्भ काल में एयर फोर्स में रहे, वह बताया करते थे कि एयर फोर्स मे भी रहते हुए वह अपने सहयोगियों में आर्यसमाज का प्रचार प्रसार करते रहे।

जालन्धर में आने के पश्चात् उन्होंने एक छोटी सी फैक्ट्री साइकिल पार्ट्स की लगाई। पण्डित जी में बहुत ही मानवीय गुण थे-भाग्यशाली भी थे- ईश्वर कृपा से कारोबार दिनोंदिन बढ़ता ही गया-ज्यों-ज्यों कारोबार बढ़ता गया पण्डित जी की दानशीलता भी बढ़ती गई। और धीरे-धीरे पण्डित जी जालन्धर के बहुत बड़े उद्योगपतियों में पहुँच गये।

उद्योग के क्षेत्र में तो और भी बहुतों ने तरक्की की पर पण्डित जी सदा निस्संकोच बताया करते थे कि उन्होंने कैसे तिनके से आरम्भ किया परन्तु प्रभु कृपा से वह साम्राज्य बन गया। वह जालन्धर के बड़े उद्यमियों में से एक हो गये और स्वदेश में भी जो उनका मार्केट था उसमें पण्डित जी ईमानदार व्यापारी के नाते जाने जाते थे।

ज्यों-ज्यों काम बढ़ता गया आर्थिक तरक्की होती गई पण्डित जी की दानशीलता भी बढ़ती गई-न जाने कितनी संस्थाओं को तथा कितने साधु महात्माओं, विद्वानों, निर्धनों को वह दान देते थे। वह कहा करते थे कि मैं तो पोस्टमैन हूँ देने वाला तो भगवान् है। वह जिस के भाग्य का भेजते हैं मैं उसे दे देता हूँ। पण्डित जी सरल स्वभाव के व्यक्ति थे जिसका कई लोग अनुचित लाभ भी ले लेते थे।

वह आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति, गुरु विरजानन्द स्मारक समिति करतारपुर के प्रधान और अनगिनत संस्थाओं के मार्गदर्शक रहे। वह हम से ०२.१२.२००२ को शारीरिक तौर पर बिछुड़ गये हैं जो आर्यसमाज क्षेत्र में बहुत बड़ी क्षति है। परन्तु विश्वास है कि उनके सुयोग्य सुपुत्र श्री सुदर्शन शर्मा जी तथा सारा परिवार इस क्षति की पूर्ति करने में अपनी ओर से कोई कसर नहीं छोड़ेगा तथा पण्डित जी का जीवन हमारे लिये मार्ग दर्शक काम करेगा।

चतुर्भुज मित्तल
प्रधान, श्री गुरुविरजानन्द स्मारक समिति ट्रस्ट
करतारपुर

पं० हरबंसलाल शर्मा: कर्मठ आर्य सेवक

सन् १९६५ में गुरुकुल में शिक्षण कार्य प्रारम्भ करने के साथ ही पण्डित हरबंसलाल शर्मा जी से मुझे परिचित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। पण्डित जी एक सरल, सच्चे आर्यसमाजी, धार्मिक एवं दयावान् व्यक्ति थे। उनकी सेवा में उत्तम भाव रहता था। वे सदैव नम्र रहते थे। पण्डित जी कर्मठ, कर्त्तव्य-परायण, निष्ठावान् व दानवीर थे। गुरुकुल के प्रति उन्हें विशेष प्रेम था। वे गुरुकुल के लिये प्रत्येक प्रकार की सेवा के लिये तत्पर रहते थे।

गीता में श्रीकृष्ण ने यज्ञ, दान और तप को नित्य करणीय कर्म बताया है। यज्ञ से देवताओं की तृप्ति होती है। नियत समय पर वर्षा और अन्न उत्पन्न होते हैं। दान से प्राणिमात्र के जीवन की रक्षा होती है तथा तप से व्यक्ति संयमी, परोपकारी और सेवा भावी हो जाता है। व्यक्ति को समाज और राष्ट्र से जोड़ने में यज्ञ, दान और तप की मुख्य भूमिका बताई गई है। पण्डित हरबंसलाल शर्मा जी में तीनों गुण विद्यमान थे। उन्हें धनी होने का लेशमात्र भी अभिमान नहीं था। नित्य यज्ञ और दान करना उनके जीवन का अभिन्न अंग बन गया था। आर्यसमाज की विभिन्न संस्थाओं को इस कार्य के लिये वे पर्याप्त राशि सात्त्विक भाव से प्रदान करते थे। उनके हृदय में कभी प्रतिदान की भावना पैदा नहीं हुई। उन्होंने निष्काम भाव से पुण्य-कार्य किए। इसलिये उनके दान को सात्त्विक कहा जाना चाहिये। अपने जीवन में उन्होंने इसी भाव से प्रत्येक व्यक्ति को सहायता की।

गुरुकुल काँगड़ी और स्वामी श्रद्धानन्द उनके आदर्श रहे। उनकी मान-मर्यादा के लिये पण्डित जी सदैव तत्पर रहते थे। वह निर्भीक, निर्लोभ तथा आत्म-विश्वास से पूर्ण व्यक्तित्व के धनी थे। वे अत्यन्त विनम्रता के साथ अपनी बात कह देते थे पर उनका दृष्टिकोण कठोर और हितकारी होता था। पण्डित जी ने सदैव धर्म तथा नीति की बात कही तथा सच्चे मन से जो कहा वही किया। गुरुकुल की प्रबन्ध नीति में उनकी यही दृष्टि थी। महात्मा विदुर के इस कथन के वे जीते जागते प्रतीक थे:-

पुरुषाः बहवः राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥

आज पण्डित जी हमारे बीच में नहीं हैं परन्तु उनकी कीर्ति हमारे मध्य विद्यमान है। पण्डित जी को आर्य जगत् कभी भुला नहीं सकता। मैं पण्डित जी को हृदय से श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

डॉ. वीरेन्द्र अरोड़ा
संकायाध्यक्ष विज्ञान एवं प्रोद्योगिकी
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार-२४९४०४

पं० हरबंसलाल शर्मा: एक आदर्श व्यक्तित्व

मेरी आयु जब सात वर्ष की हुई तब मेरे माता-पिता ने मुझे गुरुकुल कुरुक्षेत्र में विद्याध्ययन के लिये प्रविष्ट करा दिया। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की प्रेरणा मेरे पिता जी को पण्डित लोकनाथ जी तर्कवाचस्पति से मिली थी, जो उस समय के महान् विद्वान् तथा आर्यसमाज के प्रबुद्ध प्रचारकों में से एक थे।

गुरुकुल कुरुक्षेत्र में उस समय पण्डित सोमदत्त जी मुख्य अधिष्ठाता तथा आचार्य के पद पर काम कर रहे थे। उनका अनुण्गसन अतीव कठोर था। सुबह ५ बजे सब विद्यार्थी उठ जाते थे, और शौच आदि से निवृत्त होने के लिये जंगल में चले जाते थे। उसके पश्चात् शीतल जल से स्नान करके व्यायाम तथा संध्या हवन आदि से सात बजे तक निवृत्त हो जाते थे। इस प्रकार से प्रत्येक विद्यार्थी को कठोर अनुशासन में रहने की शिक्षा बचपन से ही मिल जाती थी।

यह वह समय था, जब आर्यसमाज का प्रचार अपने पूर्ण यौवन पर था। अनेक विद्वान् और संन्यासी आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिये भारत के अनेक नगरों का भ्रमण करते रहते थे। वहाँ पर आर्यसमाज की स्थापना के साथ-साथ प्रचार भी करते थे। हमारा परिवार उस समय कराँची में रहता था। कीमाड़ी कराँची का एक उपनगर है, कीमाड़ी आर्यसमाज के भवन को बनाने के लिये हमारे परिवार ने अपने तन, मन, धन से सेवा की। हमारे पिता जी पण्डित कर्मचन्द जी एवं उनके छोटे भाइयों पण्डित किशनचन्द जी और पण्डित मुरारीलाल जी ने अपने सिर पर ईटों तथा रेत और बजरी के तसलों को ढोया और आर्यसमाज का भवन बनाने के लिये तन, मन, धन से सेवा की। इस आर्यसमाज का उद्घाटन उस समय के वयोवृद्ध संन्यासी स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी ने किया। इनका प्रवचन प्रत्येक रात्रि को सात बजे से नौ बजे तक हुआ करता था। इनके अतिरिक्त स्वामी सर्वदानन्द जी तथा पण्डित लोकनाथ जी तर्कवाचस्पति के प्रवचन भी समय-समय पर होते रहते थे। स्वामी

श्रद्धानन्द जी भी गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना करने के पश्चात् कराँची आये थे। उनकी प्रेरणा से ही गुरुकुल कुरुक्षेत्र की भी स्थापना हुई थी। इन सब विद्वानों से प्रेरणा पाकर ही मेरे पिता जी ने मुझे गुरुकुल कुरुक्षेत्र में प्रविष्ट कराने का अपना निश्चय किया। हमारे चाचा पण्डित किशनचन्द जी ने भी अपने बेटे वेदव्रत को भी सात वर्ष का होने पर गुरुकुल कुरुक्षेत्र में प्रविष्ट करवा दिया।

मैं गर्मियों की छुट्टियों में कभी-कभी अपने दादा जी के पास जाया करता था, जो कि हमारे पैतृक गाँव रुड़काकलाँ जिला जालन्धर में रहते थे। मेरे बड़े भाई साहब हरबंसलाल जी शर्मा उन्हीं के पास रहकर शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। हमारे दादा जी कर्मकाण्ड के विद्वान्, मनस्वी तथा ज्योतिष विद्या में भी निपुण समझे जाते थे। दूर-दूर के गाँव के लोग अपनी जन्मपत्रियाँ लेकर उन्हें दिखाने आते थे और वे उनके प्रश्नों का उत्तर भी देते थे। मुझे बड़े भाई साहब का जीवन बिल्कुल गुरुकुल के जीवन के समान प्रतीत हुआ। दादा जी प्रातःकाल पाँच बजे ही हम दोनों को जगा दिया करते थे और हमें शौच आदि से निवृत्त होने के लिये गाँव से बाहर खेतों में ले जाते थे। शौच से निवृत्त होकर तीन मील की दौड़ हमें लगवाते थे और उसके पश्चात् व्यायाम तथा तेल मालिश का कार्यक्रम चलता था। उसके पश्चात् स्नान आदि करके घर वापिस आ जाते थे। घर में गाय और भैंस हमेशा से ही रक्खी जाती थी, जिनका दूध निकालने का काम भाई हरबंसलाल जी का होता था। इस प्रकार सायंकाल को पुनः भ्रमण के लिये जाते थे। गाँव के बाहर स्कूल के साथ ही कुश्ती लड़ने का अखाड़ा था। जिसमें भाई साहब प्रतिदिन ही कुश्ती लड़ा करते थे। घर पहुँचकर चारा काटने की मशीन से चारा काटकर पशुओं को खिलाते थे। इस प्रकार के कठोर अनुशासनात्मक जीवन से भाई साहब का शरीर वज्र के समान हृष्ट-पुष्ट तथा कठोर हो गया था।

मुझे याद है एक बार हमारे दादा जी ने गाँव से लगभग पाँच मील की दूरी पर किसी काम के लिये जाना था, उन्होंने अपने साइकिल के कैरियर पर सामान रख लिया और आप साइकिल चलाने लगे, हम दोनों से कहा कि तुम दोनों दौड़ते हुए मेरे साथ चलो जब तक कि वह स्थान नहीं आ गया, तब तक दादा जी साइकिल चलाते रहे और हम दोनों दौड़ते रहे।

रात को वे हमें तब तक सोने नहीं देते थे जब तक कि मैं उन्हें २० तक पहाड़े न सुना दूँ। और भाई साहब स्कूल का काम करने के बाद न सुना दें। हमारे दादा जी को एक खास प्रकार की विद्या आती थी, जो उन्होंने हमें सिखायी। इस विद्या से अपने हाथों तथा हाथों की अंगुलियों से इशारा करते हुए हम एक दूसरे के मन के विचारों समझ सकते थे। मेरे इस सारे प्रसंग को लिखने का अभिप्राय यह है कि किस प्रकार कठोर तपस्यामय जीवन की शिक्षा मेरे बड़े भाई साहब हरबंसलाल जी को दी गयी, जिसके परिणाम स्वरूप उनका सारा जीवन ही कठोर अनुशासन से ओतप्रोत और सब प्रकार के व्यसनों से रहित तथा तपस्यामय बना।

भाई हरबंसलाल जी ने जब दसवीं कक्षा उत्तीर्ण कर ली तो दादा जी उन्हें पिता जी के पास कराँची लेकर आगये, और पिता जी से कहा कि मैंने इसे ऐसा बना दिया है कि तुम जहाँ भी इसको लगाओगे वह वहीं पर अपना कार्य भलीभाँति मेहनत के साथ करेगा। उन दिनों द्वितीय महायुद्ध होने के आसार दृष्टिगोचर हो रहे थे। उसी सिलसिले में रॉयल एयर फोर्स में भाई साहब की नियुक्ति हो गयी। उनको किसी प्रकार का कष्ट एयर फोर्स में नहीं हुआ क्योंकि कठोर तपस्या में जीवन व्यतीत करके ही वे गाँव से आये थे।

अंग्रेज शासक इनके कार्य से बहुत खुश थे, इसलिये इनकी तरक्की अति शीघ्रता से होने लगी। एयर फोर्स में रहते हुए जबकि इनके सारे साथी मांस, मदिरा का सेवन करते थे, इन्होंने कभी अण्डे का भी प्रयोग नहीं किया। एक दिन अंग्रेज अफसर ने उन्हें बहुत समझाया कि तुम मांसाहार नहीं करते हो इसलिये तुम हिन्दुस्तानी पीछे रह जाते हो, तुम्हारा शरीर उतना बलवान् और सुगठित नहीं होता, जितना एक मांसाहारी व्यक्ति का होता है। भाई साहब का उत्तर था कि आप किसी मांसाहारी व्यक्ति को ले आइये जो मेरे साथ कुश्ती लड़ सके। अंग्रेज अफसर ने अपने सबसे अधिक बलवान् व सुगठित शरीर वाले सैनिक को बुलाकर भाई साहब से कुश्ती कराने के लिये वहाँ के समस्त जनसमुदाय को एकत्रित कर लिया। कुश्ती प्रारम्भ हुई, भाई साहब ने कुछ मिनटों में ही उसे पछाड़ दिया और चित्त कर दिया।

इस पर अंग्रेज अफसर ने पीठ थपथपायी और कहा कि मुझे नहीं मालूम था कि एक शाकाहारी व्यक्ति भी इतना बलवान् हो सकता है।

१५ अगस्त १९४७ को भारत स्वतन्त्र हो गया, परन्तु इसका विभाजन भारत और पाकिस्तान के रूप में दो भागों में हो गया। हमारा सारा परिवार कराँची में रहता था, इसलिये सारे परिवार को कराँची छोड़कर भारत में आना पड़ा। सबने जालन्धर शहर में रहने का निश्चय किया। भाई साहब ने भी एयर फोर्स की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और वे भी जालन्धर में अपने परिवार सहित आ गये। अब समस्या यह उत्पन्न हुई कि क्या काम किया जाये। जिससे अपने परिवार का पालन-पोषण ठीक प्रकार से हो सके। भाईसाहब ने जालन्धर आकर साइकिल के पुर्जे बनाने का काम शुरु किया। इन्होंने एक छोटी सी मशीन खरीदी, उससे वे पुर्जा बनाते थे। एक सप्ताह में जितने भी पुर्जे बनाकर तैयार हो जाते थे उन सबको एटलस कम्पनी को दे दिया करते थे। इनका रहन-सहन बहुत ही साधारण था मुझे वे दिन याद आते हैं जब उन्होंने अपनी नौकरी से बचाये हुए कुछ पैसों से मॉडल टाउन जालन्धर में एक मकान खरीदा था। पैसों के अभाव के कारण उन्होंने उस मकान को किराये पर चढ़ा दिया और स्वयं मकान की गैलरी में अपनी धर्मपत्नी और बच्चों सहित रहने लगे। इसी गैलरी में भोजन बनता था और इसी गैलरी सब सोते थे क्योंकि उनके प्रारम्भिक जीवन की आधारशिला ही कठोर तथा तपस्यामयी थी, इसलिये वे अपने इस प्रकार के जीवन से भी संतुष्ट रहते थे। कभी भी उन्होंने यह प्रकट नहीं होने दिया कि वे अत्यन्त साधारण अवस्था में जीवन यापन कर रहे हैं। हमारी भाभी श्रीमती राजरानी ने उनका पूर्ण सहयोग दिया।

अपने इस सादे जीवन और कम खर्चीले व्यवहार के कारण उन्होंने कुछ पैसा जोड़ लिया। आगे चलकर इन्होंने एक हैमर (एक मशीन) खरीद ली और उस मशीन को लगाने के लिये एक दो कमरे फैक्ट्री एरिया में किराये पर लिये और वहाँ पर उस मशीन को लुधियाने से लाकर स्थापित किया। जिस दिन उस मशीन का उद्घाटन होना था, उन्होंने अपने सारे बड़े बुजर्गों तथा परिवार के लोगों को निमन्त्रित किया। हवन के पश्चात् अपने पिता जी द्वारा नारियल फोड़कर उसका उद्घाटन करवाया।

उनका सबसे बड़ा बेटा सुदर्शन पढ़ाई पूरी कर चुका था। भाई साहब ने उसे भी अपने साथ उसी छोटे कारखाने में काम करने के लिये लगा लिया। दोनों पिता पुत्र सवेरे से लेकर रात तक काम करते थे और उनकी उत्पादन क्षमता पहले से १०० गुना बढ़ गयी थी। मुझे याद है कि जब दोनों काम से लौटकर घर आते थे तो दोनों के कपड़े मशीन पर काम करने के कारण काले रंग के हो जाते थे। इसी मेहनत और सादे जीवन के कारण वे दिन दूनी और रात चौगुनी तरक्की करते चले गये। अब उन्होंने साइकिल की जगह एक स्कूटर खरीद लिया था, घर जो किराये पर दिया था, उसमें स्वयं रहने लगे।

अगर उनके सारे जीवन का वृत्तान्त लिखा जाये तो एक पूरी पुस्तक बन जायेगी। संक्षेप में इतना अवश्य कहूँगा कि उन्होंने अपने तीनों बेटों को भी अपने समान ही कठोर जीवन तथा परिश्रम पूर्वक अपना जीवन यापन करने की शिक्षा दी। उसी शिक्षा का यह परिणाम हुआ कि तीनों बेटों के साथ मिलकर अपने छोटे से काम को इतना बढ़ा दिया कि उनके द्वारा निर्मित सामान विदेशों में भी निर्यात होने लगा।

जब कभी भी मैं जालन्धर उनके पास जाता तो भोजन के पश्चात् हम दोनों आंगन में सैर करते हुए वार्तालाप करते थे। मैंने उनसे यह पूछा कि आपकी इस उन्नति का क्या रहस्य है? उनका एक ही उत्तर होता था कि अति परिश्रम, सादा जीवन, ईमानदारी और ईश्वर पर अटूट विश्वास। मुझे यह कहा करते थे कि मैं अनेक संस्थाओं तथा आर्यसमाजों को दान देता हूँ, इसलिये लोग मुझे दानी कहते हैं, परन्तु मैं तो एक डाकिये की तरह हूँ, भगवान् मुझे देता है और मैं उस धन को जगह-जगह बाँट देता हूँ। मैं यह भी नहीं चाहता कि जिस संस्था को मैंने दान दिया है या कोई भवन आदि का निर्माण कराया है तो वहाँ पर मेरे नाम का पत्थर लगाया जाये। इसी सिलसिले में मुझे एक प्रसंग याद आता है कि हमारे पैतृक गाँव रुड़कां कलां से कुछ सम्मानित व्यक्ति उनके पास आये और कहने लगे कि आपका बचपन हमारे गाँव में बीता है तथा शिक्षा दीक्षा भी हमारे गाँव में हुई है, परन्तु आपने कितनी ही संस्थाओं को दान दिया होगा और अपने गाँव को कुछ भी नहीं दिया। भाई साहब ने पूछा आप मुझसे क्या आशा लेकर आये हैं? मैं आपकी किस तरह से सेवा कर सकता हूँ। उन्होंने कहा गाँव

में धर्मशाला, विद्यालय, मन्दिर, गुरुद्वारा भी है, परन्तु एक चीज की व्यवस्था ठीक नहीं है और वह है श्मशान भूमि। भाई साहब ने उनसे पूछा कि उसकी व्यवस्था ठीक करने के लिये कितना धन खर्च होगा? उन लोगों ने कहा लगभग दो लाख रुपये श्मशान को ठीक प्रकार से व्यवस्थित करने में व्यय होंगे, उन्होंने तत्काल दो लाख रुपये का चैक उनको दे दिया और साथ में यह यह शर्त भी रख दी कि उनका नाम वहाँ पर कहीं भी नहीं लिखा जायेगा।

श्मशान की व्यवस्था ठीक होने के पश्चात् जब गाँव से आये सज्ञनों ने बहुत अधिक अनुरोध किया तो उन्होंने कहा कि अगर आपको मेरा कहना स्वीकार नहीं है तो हमारे दादा पण्डित मेलाराम जी के नाम का पत्थर वहाँ पर लगवा दें। इसी प्रकार का गुप्तदान उन्होंने मॉडल टाउन जालन्धर की श्मशान भूमि की व्यवस्था ठीक करने के लिये भी दिया था।

यद्यपि भाई हरबंसलाल जी अपने कार्य में बहुत अधिक व्यस्त रहते थे, परन्तु फिर भी उनका जीवन हास्य-विनोद से भरपूर था। वे अनेक प्रकार के चुटकले कहानियाँ तथा मनोविनोद करने वाले अनेक प्रसंग सुनाया करते थे। एक ऐसा ही प्रसंग उन्होंने अपने विवाह के विषय में सुनाया था जिसने सभी को हँसी से लोटपोट कर दिया था। उस समय विवाह से पहिले, होने वाली बहू को लड़के को दिखाया नहीं जाता था। बड़े बुजुर्ग ही खानदान को देखकर रिश्ता तय कर लेते थे। जब उनका विवाह हो गया, और बारात घर में वापिस आगयी, तो घर की स्त्रियों ने तथा अन्य आस-पड़ौस की स्त्रियों ने बहू का घूँघट उठाकर देखना शुरु कर दिया, और भाई साहब से आकर स्त्रियों ने कहा कि तेरी बहू बहुत सुन्दर है, यह सुनकर उनके मन में गुदगुदी होने लगी, उन्होंने सोचा कि मैं भी क्यों न साड़ी पहिनकर चुपके से अपनी बहू का मुख देख लूँ, उन्होंने साड़ी पहिनी और चुपचाप, विना किसी को बताये, अपनी बहू को देखने चले गये, उन्होंने घूँघट उठाकर देखा तो किसी स्त्री ने उनको पहिचान लिया और जोर से कहा कि हरबंसलाल अपनी बहू को देखने के लिये तू आया है, यह देखकर वहाँ बैठी सारी स्त्रियाँ हँसी से लोटपोट हो गयीं।

भाई साहब प्रतिदिन प्रातःकाल ओ३म् का जाप किया करते थे। उन्होंने एक दिन मुझे बताया कि ओ३म् का जाप किस प्रकार से करना चाहिये। इसकी प्रक्रिया मुझे स्वामी

सर्वदानन्द जी ने कराँची में बतायी थी। अ उ म् ये तीन ध्वनियाँ ओ३म् में सम्मिलित हैं, ये तीनों ही आधारभूत ध्वनियाँ हैं, अन्य सभी ध्वनियाँ इनसे ही उत्पन्न होती हैं। सबसे पहिले ओ३म् का उच्चरण से जोर से करना चाहिये, जिसको अन्य व्यक्ति भी सुन सकें, परन्तु उसमें लय होनी चाहिये। जब ओ३म् का उच्चारण हो तो सब कुछ भूल जाओ। ओ३म् ही बन जाओ, ओ३म् की ध्वनि शरीर में, मन में और सारे स्नायु संस्थान में गूँजने लगती है, उसके पश्चात् अपने होठ बन्द कर लो और ओ३म् का उच्चारण अपने भीतर ही करें। जिससे ध्वनि तुम्हारे शरीर में, एक-एक अणु में फैल जाये। तुम इससे अपने अन्दर अधिक प्राणशक्ति का अनुभव करने लगोगे और ऐसा प्रतीत होगा कि जैसे तुम्हें नया जीवन प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार के आध्यात्मिक प्रसंग वे जब भी अपने मूड़ में आते थे, हमें सुनाते रहते थे।

उनकी एक हार्दिक इच्छा थी कि गंगापार जो गुरुकुल काँगड़ी की तपोभूमि है, जिस पर उन्होंने उसका जीर्णोद्धार करने के लिये लाखों रुपये खर्च कर दिये हैं और उसको एक सुन्दर रूप दे दिया है, उस भव्य इमारत में आर्यसमाज के अच्छे-अच्छे विद्वान् और संन्यासी जन आकर रहें तथा वहाँ पर एक उपदेशक महाविद्यालय खोल दिया जाये, जिसमें वेद, उपनिषद् तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन कराया जाये। स्नातक बनने के बाद ऐसे विद्यार्थी यहाँ शिक्षा ग्रहण करें जो कि महर्षि दयानन्द द्वारा प्रणीत आर्य पद्धति के अनुसार संस्कार आदि कराने में समर्थ हों तथा वे वेद के मन्त्रों की व्याख्या अच्छी प्रकार से हिन्दी तथा अंग्रेजी भाषा में कर सकें। उनमें इतना सामर्थ्य उत्पन्न हो जाये कि वे भारत में ही नहीं, अपितु विदेशों में जाकर भी आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार करें। उपदेशक महाविद्यालय का सारा खर्च आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब वहन करे, यह इनकी हार्दिक इच्छा थी।

एक बार मेरे पोतों ने मुझसे पूछा कि आप अपनी नजर में परिवार और समाज में किस व्यक्ति को अपना आदर्श मानते हैं तो मेरा उनके लिये यही उत्तर था कि मैं अपने बड़े भाई श्री हरबंसलाल जी को एक आदर्श व्यक्ति मानता हूँ और मेरे लिये वही आदर्श हैं, जिनकी प्रेरणा से मैं इस अवस्था तक पहुँचा हूँ।

यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि उनके तीनों ही सुयोग्य बेटों ने अपने व्यवसाय का कार्य बहुत भली प्रकार से सम्भाल लिया है और जालन्धर शहर के प्रतिष्ठित व्यवसाइयों और उद्योगपतियों में उनकी गणना होने लगी है। भाई साहब तथा अपने तीनों बेटों के संस्कारों को बनाने में हमारी भाभी श्रीमती राजरानी का बहुत बड़ा हाथ है। उनकी प्रेरणा से ही सारा परिवार सम्मिलित रूप में रहकर अपने व्यवसाय को बढ़ाने में समर्थ हो सका है। हम सब परिवारी जनों का स्नेह और आशीर्वाद भाई साहब के बड़े पुत्र पण्डित सुदर्शन शर्मा को भी उनके ही पदचिह्नों पर चलते हुए महान् बनायेगा और वह आर्यसमाज और गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति के पद पर रहकर अपने कर्त्तव्यों का अच्छी प्रकार से निर्वाह करेंगे। ऐसी हम सबकी मनोकामना है।

आचार्य विनय कुमार शर्मा
प्राचार्य उत्तरांचल आयुर्वैदिक कालेज
देहरादून.

आर्यजगत् की महान् हस्ती, ईमानदारी, ऋजुता, समदर्शिता और उदारता के प्रतीक श्री पं० हरबंसलाल शर्मा

श्रद्धेय पण्डित हरबंसलाल जी शर्मा एक विनम्र और स्वच्छ हृदय के व्यक्ति के थे। गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय में उनकी अटूट श्रद्धा थी। वे विश्वविद्यालय के वार्षिक उत्सव पर और अन्य अवसरों पर हर वर्ष गुरुकुल काँगड़ी आते थे। गुरुकुल के छोटे बड़े सभी कर्मचारियों और शिक्षकों से बड़े स्नेह से मिलते थे और बात करते थे। वे लम्बे चौड़े भाषण नहीं देते थे, पर जो शब्द अपने मुखारविन्द से निकालते थे, उसे करके दिखाते थे। पण्डित हरबंसलाल जी शर्मा गुरुकुल के रचनात्मक कार्यों में गहरी रुचि लेते थे। उनका जीवन दया और दान पर आधारित था। उन्हें आर्य जगत् का दानवीर भी कहा जाता है। विश्वविद्यालय के माननीय कुलाधिपति के रूप में उनके योगदान को कभी भुलाया नहीं जा सकता।

प्रो० पुरुषोत्तम कौशिक
वनस्पति एवं सूक्ष्मविज्ञान विभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार-२४९४०४
उत्तरांचल

वेदभक्तः पं० हरबंसलालशर्मा

महोपकारी दृढनिश्चयी यो
न्यायप्रियो गोऋषिवेदभक्तः।
जालन्धरे यस्य विशालशालः
श्लाघ्यः स शर्मा हरबंसलालः॥ १॥

श्रुत्वा स्मृतं पाणिनिसूत्रशास्त्रम्,
सुवेदपाठं मधुरं महीयान्।
ददाति वित्तं बहुपाठकेभ्यो
वन्द्यः स शर्मा हरबंसलालः॥ २॥

सदातिथेयं व्रतमातनोति
दाता स भक्त्याऽमलया सभार्यः।
लक्ष्मीकृपापात्रमसौ यशस्वी
सतां हि सेवामयजीवनं सत्॥ ३॥

सभा प्रधानस्य पदे सुशोभते
प्रसन्नचेता मुनिवत् स राजते।
स्वल्पा भवन्तीह जनास्तु तत्समा
नम्रा धनाढ्याः प्रचुरप्रदायकाः॥ ४॥

दाता धनानां नयवाँश्च धार्मिकः
स वै कुलस्याधिपतिः सुकर्मठः।
वाचंयमी धैर्यधुरन्धरः पुमान्
दयामयान्तःकरणो विराजते॥ ५॥

डॉ. सत्यदेवनिगमालङ्कारः
उपाचार्य उपनिदेशकश्च
श्रद्धानन्द वैदिकशोध-संस्थानस्य

पं० हरबंसलाल शर्मा: एक अनूठा व्यक्तित्व

किसी को परमेश्वर बुद्धि विवेक देता है, लेकिन धनादि से त्रस्त रखता है। किसी को धन देता है, लेकिन विद्या बुद्धि का अभाव रहता है। कहते हैं कि सरस्वती एवं लक्ष्मी साथ-साथ नहीं रह सकतीं, परन्तु आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्राणपण से अनुगमन करने वाले समाजसेवा के लिये समर्पित गरीबों के मसीहा सत्यार्थी पं० हरबंसलाल शर्मा धनादि से परिपूर्ण थे ही, विद्या बुद्धि के भी धनी थे।

२ फरवरी १९२० को रुडका कलाँ (जिला जालन्धर) में पं० हरबंसलाल जी शर्मा का जन्म हुआ था। इनके पिता पं० कर्मचन्द शर्मा तथा माता श्रीमती लालदेवी प्रारम्भ से ही बहुत धार्मिक प्रवृत्ति के थे। श्री कर्मचन्द कराँची आर्यसमाज के प्रधान रहे तथा आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में निरन्तर संलग्न रहे, जिसका प्रभाव पं० हरबंसलाल शर्मा पर बचपन में ही पड़ा और वे भी उसी रंग में ढल गये। श्री कर्मचन्द जी के प्रधान होने के कारण उस समय आर्यसमाज के बड़े-बड़े कार्यकर्त्ता, संन्यासीवृन्द निरन्तर इनके घर आते रहते थे। इसका भी प्रभाव पं० हरबंसलाल शर्मा के चरित्र निर्माण पर पड़ा। इनका यज्ञोपवीत संस्कार आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् तथा यज्ञोपरान्त गाये जाने वाले प्रसिद्ध भजन "यज्ञरूप प्रभो हमारे भाव उज्ज्वल कीजिए" के रचयिता पं० लोकनाथ तर्क वाचस्पति जी ने किया था। जिनका पौत्र राकेश शर्मा अन्तरिक्ष में जाने वाला पहला भारतीय अन्तरिक्ष यात्री है। ललतो कलां लुधियाना की श्रीमती राजरानी जी से पं० हरबंसलाल जी शर्मा का विवाह हुआ था। पूज्य पिता द्वारा विरासत में मिले आर्यसमाज के संस्कारों के कारण पं० हरबंसलाल जी शर्मा बचपन से ही आर्यसमाज से जुड़ गये। इनके चाचा पं० मुरारीलाल जी भी कई वर्षों तक आर्यप्रतिनिधि सभा, पंजाब के कोषाध्यक्ष तथा महमन्त्री रहे।

पं० हरबंसलाल जी शर्मा मृत्यु पर्यन्त कर्मशील बने रहे। प्रारम्भ में उन्होंने रायल एयर फोर्स में १० वर्ष नौकरी की। जब वे कानपुर में नियुक्त थे, उन्होंने तभी नौकरी से

त्यागपत्र दे दिया। हालांकि इसके बाद उन्हें लंदन बुलाया गया, वे नहीं गये और जालन्धर में ही साइकिल पार्ट्स का काम स्वतन्त्र रूप से प्रारम्भ कर दिया। इसके बाद इन्होंने विजय साइकिल स्टील तथा एच. आर. इण्टरनेशनल प्रा०लि० के नाम से जालन्धर में ही अपना उद्योग स्थापित कर दिया। इनका शतप्रतिशत उत्पाद विदेशों में जाता है। पण्डित जी के कर्म के प्रति समर्पण भाव, निश्छलता, ईमानदारी के साथ कार्य करने के कारण वे आज पंजाब के प्रसिद्ध उद्योगपतियों के बीच श्रेष्ठ स्थान पर प्रतिष्ठित हैं।

पण्डित जी ने केवल आर्थिक उन्नति ही नहीं की। अपितु उन्होंने आध्यात्मिक उन्नति भी उतनी ही की। उनका नित्य हवन करना, द्वार आये किसी को भी खाली न लौटाना, स्कूलों, गौशालाओं, धार्मिक अनुष्ठानों में खुले हाथों से दान देना भी अपने आप में अनूठा कृत्य है। लोगों के पास धन तो होता है, लेकिन किसीको देने का दिल हर किसी के पास नहीं होता। इसीलिये पण्डित जी को आर्यसमाज का भामाशाह भी कहा जाता है।

पण्डित जी काफी समय से गुरुकुल विश्वविद्यालय से जुड़े हुए हैं। ३ जनवरी १९९४ को पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के यशस्वी प्रधान श्री वीरेन्द्र जी के निधन के पश्चात् आप विना किसी विरोध के निरन्तर मृत्यु पर्यन्त आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के प्रधान बने रहे। इधर विश्वविद्यालय की सीनेट के सदस्य रहे, बाद में विश्वविद्यालय के अक्टूबर २००० से कुलाधिपति मनोनीत किये गए।

पण्डित जी का जीवन स्वयं में एक मिसाल रहा है। उन्होंने कभी भी विश्वविद्यालय से किसी प्रकार का लाभ लेने की कोशिश नहीं की। अपितु जब भी आये गुरुकुल को दान देकर गये। अपने रहते उन्होंने कभी भी किसी प्रकार की कमी नहीं होने दी।

सम्भवतः, एक अकेले वे ही ऐसे व्यक्ति हुए जिन्होंने गुरुकुल पुण्यभूमि की सुरक्षा हेतु कई लाख रुपये अपनी ओर से खर्च किये। उन्हीं की भाँति उनके पुत्र पं० सुदर्शन शर्मा वर्त्तमान कुलाधिपति, उनकी पत्नी श्रीमती राजरानी विश्वविद्यालय की सेवा में संलग्न हैं। आप स्वयं भी समय-समय पर गुरुकुल विश्वविद्यालय की सेवार्थ दान देते रहे हैं तथा अथक मेहनत से कमाये गये धन को पुण्य कर्मों में व्यय करते हैं। वही पुण्य कर्म प्रारब्ध बन मनुष्यों

को नाना जन्मों तक सम्पन्नता प्रदान करते रहते हैं। अतः पण्डित जी भी जहाँ कहीं भी जन्म लेंगे निश्चित रूप से इसी प्रकार के श्रेष्ठ कुल में जन्म लेंगे। हालांकि उनके इस संसार से चले जाने पर आर्यसमाज में एक रिक्तता महसूस की जा रही है, परन्तु अपने यशस्वी कृत्यों से आज भी वे हमारे बीच हैं।

डॉ० प्रदीप जोशी
जनसम्पर्क अधिकारी
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

स्वामी हरबंसलाल शर्मा

श्री पं० हरबंसलाल शर्मा आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के प्रधान थे। वह कोहिनूर हीरा, धर्मात्मा, नेक महापुरुष थे, जो कहते थे वह कर दिखाते थे। उनकी आवाज में दम था। उन्होंने सारा जीवन धार्मिक संस्थाओं में लगाया।

श्री पं० हरबंसलाल शर्मा के तीन पुत्र हैं। इनमें सबसे बड़े पुत्र श्री सुदर्शन शर्मा, दूसरे श्री सुरेश शर्मा, और तीसरे श्री नरेश शर्मा जी हैं। हम सबने मिल उनके मिशन को पूरा करना है, उनके रास्ते पर चलना है और हम चलेंगे। भारत में तीन विभूतियाँ हैं:-

१.स्वामी दयानन्द सरस्वती।

२. स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज।

३. अब स्वामी हरवंस लाल शर्मा जी का नाम चारों दिशाओं में कोहेनूर हीरे की तरह रोशनी दे रहा है। भारत में सब स्थानों से आवाज आ रही है कि आर्यो! मिशन पर चलो।

जब तक गंगा में पानी रहेगा।
स्वामी शर्मा हरबंसलाल जी का नाम रहेगा॥

उनके मिशन की जोत जगाते चलो। उनका आशीर्वाद हमारे साथ है। वह आज भी हमारे पास हैं। देख रहे हैं कि कार्य हो रहा है।

नरेन्द्र खन्ना
रिटायर्ड जेल सुपरिंटेंडेण्ट
ज्योतिराम स्ट्रीट
कच्चा पटियाला.

श्री पं० हरबंसलाल शर्मा: त्याग तपस्या की मूर्ति

श्री पं० हरबंसलाल शर्मा ने अपना तन-मन-धन सब कुछ आर्यसमाज को समर्पित कर दिया था। उन्होंने अपने जीवन को समिधा बनाकर महर्षि दयानन्द के सन्देश को घर-घर तक पहुँचाने का अनथक प्रयास किया और वेद तथा मानवता की ज्योति को जलाये रक्खा। निश्चय ही वे त्याग और तपस्या की मूर्ति थे। उन्होंने अनेक भटके हुए लोगों को आर्य समाज का सिपाही बनाया। उन्होंने वैदिक शिक्षा-पद्धति के प्रसार में स्मरणीय योगदान दिया।

देवराज आर्य मन्त्री
आर्य प्रतिनिधि सभा
देहरादून, उत्तरांचल.

श्री पं० हरबंसलाल शर्मा: विलक्षण व्यक्तित्व

श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा आज के वर्त्तमान समय में आर्यसमाज के स्तम्भ थे। वह एक विलक्षण व्यक्तित्व के स्वामी थे। आर्य जगत् में एक महान् विभूति के रूप में माने जाते थे। वह एक साधुवृत्ति के महान् व्यक्ति थे। दान-भावना तथा परोपकार भावना उनके जीवन की विशेषता थी। महर्षि दयानन्द के आदर्शों के पक्के अनुयायी तथा वैदिक भावनाओं से ओतप्रोत थे। आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब में निर्विवाद होने के कारण आर्य जगत् के सभी नेता अधिक से अधिक उनका सम्मान करते थे। दिवंगत नेता में सभी को विश्वास था, इसी कारण आर्य प्रतिनिधि सभा में चल रहे विवाद समाप्त हो गये तथा सभा एकरूप होकर वेद प्रचार-प्रसार में जुट गई। पण्डित जी के गुरुकुल काँगड़ी हरिद्वार का कुलाधिपति बनने के पश्चात् गुरुकुल काँगड़ी भी उन्नति की ओर अग्रसर था। पण्डित जी के निधन से आर्य समाज को ऐसी क्षति पहुँची है, जिसकी भरपाई नहीं हो सकेगी।

मेघराज गोयल
संगठन मन्त्री
पंजाब प्रदेश कांग्रेस कमेटी
बुडलाडा
जिला मनसा (पंजाब)

आर्य जगत् के प्रकाश स्तम्भ

त्याग और तपस्या की महान् विभूति श्री पं० हरबंसलाल शर्मा के विषय में कैसे लिखूँ, आँखें नम, हाथों में कम्पन, मन और मस्तिष्क बोझिल है। ऐसी स्थिति में कुछ लिख पाना कितना कठिन हो रहा है। एक ईश का पुजारी, श्रद्धाभक्ति, त्याग, तपस्या की मूर्ति थे। ऐसा लगता है कि वे हमारे समक्ष उपदेश दे रहे हैं कि आर्य संस्थान चलाओ, क्षति की पूर्ति सदैव होगी, ऐसी विचारधारा वाले परमादरणीय श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा की कमी को आर्य समाज कैसे पूरा कर पायेगा, यह एक गम्भीर समस्या है। वे पुरानी पीढ़ी के मिशरनी आर्य समाजी थे। वे ऐसे पारस थे जो जिसके साथ मिलते, वही सोना बन जाता। किसी भी तरह आर्य समाज का प्रचार-प्रसार होना ही चाहिये, यह उनका परम उद्देश्य था। उन्होंने आर्य समाज व सामाजिक जीवन में अनेक संस्थाओं के माध्यम से महत्त्वपूर्ण कार्य किया, उनका कार्य चिरस्मरणीय रहेगा।

विचार लो कि मृत्यु हो, न मृत्यु से डरो कभी।
मरो परन्तु यों मरो, याद लोग करें सभी॥

आचार्य ओंकार शास्त्री
आर्य समाज मन्दिर
ओहरी चौक, बटाला.

श्री पं० हरबंसलाल शर्मा: दयानन्द का सच्चा वीर सैनिक

श्री पं० हरबंसलाल शर्मा का वरदहस्त सभी आर्यों के लिये शीतल बरगद की छाया थी, इस छाया के हट जाने से हम पर जो बीतेगी वह या तो आर्य जन समझ पायेंगे या हम............ जिनसे एक सच्चा दयानन्द का वीर सैनिक छिन गया, एक सच्चा देशभक्त, दानी व आर्य भक्त छिन गया, इस समय तो हम सभी आर्य जनों को श्री पं० हरबंसलाल शर्मा की आवश्यकता बहुत अधिक थी। सारा पंजाब, सारा उत्तरांचल व भारत का हर एक आर्य आज श्री पं० हरबंसलाल शर्मा का जाना एक पहाड़ सम शोक समझ रहा है। पर जालन्धर, अमृतसर व लुधियाना जो पड़ोसी क्षेत्र हैं, पण्डित जी के न रहने से पूर्णत: वीरान हो गये हैं।

उत्तर भारत की कोई भी आर्य संस्था चाहे छोटी हो या बड़ी वह वंचित नहीं रही होगी, जिसे पण्डित जी की पवित्र कमाई से प्रचुर मात्रा में पावन धनराशि दानस्वरूप उपलब्ध न हुई होगी। हमारी **आर्य सद्भावना सत्संग समिति** को भी कई बार प्रचुर मात्रा में प्रकाशनार्थ सहायता उपलब्ध हुई, जो भुलाई नहीं जा सकती। यों भी समय-समय पर पण्डित जी का आशीष, प्रेम एवं शुभकामनाएँ हमारा होंसला बढ़ाती रही हैं, हम पण्डित जी के विना स्वयं को निर्बल व अनाथ अनुभव कर रहे हैं। धन तो हमें श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा के परिवार से भविष्य में भी मिलता रहेगा। क्योंकि पण्डित जी ने परिवार में ऐसे संस्कार छोड़े हैं। श्रीमती राजरानी माता जी की हम पर विशेष कृपा रहती है, आप भी उदार हृदया माता हैं, परन्तु हमें ऐसा पिता कहाँ मिलेगा, ऐसा कर्मठ नेता कहाँ मिलेगा, यह आज हमारी वेदना है।

नै: ब्र: (डॉ.) माधुरी योगमती
योग निकुञ्ज, गोकुल नगर, मजीठा रोड,
अमृतसर.

श्री पं० हरबंसलाल शर्मा-
महर्षि दयानन्द के स्वप्नों के साकार कर्त्ता

श्री पं० हरबंसलाल शर्मा का जीवन एक सरल, धार्मिक व आदर्श व्यक्तित्व बहुत ही प्रेरणा दायक व महान् रहा है। आर्य जगत् के प्रति उनकी निष्ठा प्रशंसनीय रही है। परोपकार व अन्य मानवतापूर्ण गुण उनके जीवन में कूट-कूट कर भरे थे। उन्होंने आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के लिये भीष्म पितामह की भूमिका निभाई एवं आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब को पूरे विश्व में चार चाँद लगाये। इसके साथ पूरे विश्व में आर्य समाज के प्रचार को आगे बढ़ाया और महर्षि दयानन्द सरस्वती के स्वप्न को पूरा किया। स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती द्वारा जलाये दीप को गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय को बचा लिया। इसके लिये पूर्ण आर्य जगत् उनका सदा-सदा के लिये प्रलयकाल तक ऋणी रहेगा। वह एक बहुत महान् आत्मा थी।

प्रधान व मन्त्री
आर्यसमाज मन्दिर
मोहाली.

श्री पं० हरबंसलाल शर्मा: त्याग और तपस्या की मूर्ति

आर्य जगत् के पितामह पण्डित श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा सदा के लिये हम से बिछुड़ गये हैं। वह श्री सुदर्शन शर्मा व उनके भाइयों के ही पिता नहीं थे, सारे आर्य जगत् के पिता थे। उन्होंने सारा जीवन आर्य समाज व आर्य जगत् की उन्नति पर लगाया। आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के प्रधान तथा गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार के कुलाधिपति होते हुए इन संस्थाओं को ऊँचाई की चोटी पर ले जाना उनका ही काम था। उनका जीवन अति सादा था, वे त्याग और तपस्या की मूर्ति थे, जो भी उनको एक बार मिला, उनके रुहानी प्यार को भुला नहीं सका। वह मेरे जैसे छोटे व्यक्ति को भी अपने प्यार से मोह लेते थे तथा मान करते थे। उनकी वाणी की मधुरता हमारे दिलों में कूट-कूट कर भरी है, जो भुलाई नहीं जा सकती। उन्होंने भारत में ही नहीं विदेशों में भी आर्य समाज के प्रचार में कोई कमी नहीं रखी। ऐसे दानवीर, श्रेष्ठ आर्य और धार्मिक व्यक्तित्व के सुमेल के रूप में उन्होंने अपनी पहिचान छोड़ी थी। उनका जीवन शिक्षा की एक खुली किताब थी। उनके जीवन की खूबियाँ सदैव याद रहेंगी। उनके जाने से आर्य समाज में एक बड़ा शून्य पैदा हो गया है, जिसका कि पूर्ण होना कठिन है। परन्तु उन्होंने अपनी शिक्षा की छाप अपने सुपुत्रों पर छोड़ी है, आर्य जगत् पर छोड़ी है, पूर्ण आशा है कि हम सभी अपना जीवन उनके बताये मार्ग पर चलाते हुए उनका नाम जीवित रक्खेंगे।

कृष्ण शरण गुप्ता
प्रधान आर्य समाज
अलावलपुर, (जालन्धर).

कर्मवीर, धर्मवीर एवं दानवीर: श्री पं० हरबंसलाल शर्मा

आदरणीय पूज्यपाद श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा के स्वर्गवास होने से न केवल शर्मा परिवार को आघात पहुँचा है, अपितु सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक क्षेत्र भी इस आघात से अछूता नहीं रह सका है। उनके सादा जीवन उच्चकोटि के विचार, सर्वधर्म के पुजारी, वचन-बद्धता तथा दिखावे से कोसों दूर रहने वाले व्यक्तित्व के प्रति जितना कहा या लिखा जाये बहुत कम होगा अर्थात् सूर्य को दीपक दिखाना होगा। वे केवल कर्मवीर ही नहीं अपितु धर्मवीर और दानवीर भी थे, जिनका सारा जीवन धर्म, समाज, गुरुकुल और संस्कृत प्रचार को समर्पित था। ऐसी महान् आत्मा को खेल आज के दानवीर कर्ण के चरणों में शत-शत प्रणाम।

रविन्द्र खुराना
एवं
खेल उद्योग के व्यापारीवर्ग
१९, बस्ती नौ
जालन्धर.

श्री पं० हरबंसलाल शर्मा: एक सच्चे राष्ट्रभक्त

सन् २००२ का वर्ष जाते-जाते आर्य जनता के हृदयों पर एक गहरा आघात कर गया, जब २ दिसम्बर को परम वन्दनीय, धर्मकीर्ति, सद्भावना व प्रेम की प्रतिमूर्ति दानवीर, परम आदरणीय श्री पं० हरबंसलाल शर्मा, कुलाधिपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, अपनी जीवन यात्रा पूर्ण करके, नश्वर देह को त्यागकर महाप्रयाण कर गये। उनके इस प्रकार चले जाने से समाज व राष्ट्र की अपूरणीय क्षति हुई है, जिसे पूरा करना बहुत कठिन है। जीवन पर्यन्त उन्होंने धार्मिक व सामाजिक सेवा के क्षेत्र में अतुलनीय कार्य किया है, जिसे कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। वे अनगिनत समाज सेवी संस्थाओं से जुड़े हुए थे और उनकी दानवीरता सर्वत्र विख्यात थी। विनम्रता, उदारता, प्रेम व करुणा की इस महान् प्रतिमा का नाम इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायेगा। जब-जब समाज व राष्ट्र को किसी भी प्रकार की चुनौती का सामना करना पड़ा श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा सदैव सबसे आगे दिखाई दिये। आयु पर्यन्त आर्य समाज में रहकर उन्होंने राष्ट्रप्रेम का पाठ पढ़ा। वे भारत के सच्चे वीर सपूत थे। अपने जीवन काल में उन्हें समाज के सभी वर्गों से भरपूर सम्मान प्राप्त हुआ और उन्होंने उन्नति व ख्याति के उच्चतम शिखरों को छुआ। आदरणीय पण्डित जी संकल्प के धनी थे। आर्य समाज के हितों पर आघात करने वाली शक्तियों का उन्होंने दृढ़ता व साहस के साथ सामना किया और सदैव समाज के हितों की रक्षा की। **उनमें महर्षि दयानन्द जैसी सत्य व न्यायप्रियता तथा बुद्ध जैसी करुणा थी।** वैदिक धर्म की **'सर्वकल्याण'** की भावना से ओतप्रोत उनका जीवन सर्वपक्ष से उज्ज्वल था। जो भी उनके सम्पर्क में आया, उनके विशाल व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। उन्होंने सदैव दूसरों का भला किया और प्रत्येक व्यक्ति के दुःख दर्द को समझा। कोई भी उनके पास जाकर खाली हाथ नहीं लौटा। तप व त्याग की ऐसी महान् पुण्यात्मा के प्रति मैं अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ। इस अवसर पर हम मिलकर यह संकल्प लें कि हम उनके दिखाए हुए मार्ग

पर चलेंगे, अपने धर्म, संस्कृति, आदर्शों व उच्च जीवन मूल्यों की रक्षा करेंगे, राष्ट्रहित में कार्य करेंगे, जिसके लिये उन्होंने अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी। आज वह महान् पुण्यात्मा हमारे बीच नहीं है, लेकिन उनके महान् जीवन का आलोक एक प्रकाश स्तम्भ की तरह सदैव हमारा मार्गदर्शन करता रहेगा। केवल उनकी भौतिक देह ही बिसरी है, लेकिन उनके जीवन की रोशनी सदैव विद्यमान रहेगी।

हर शख्स तेरी हसरत के गुमाँ में था।
न जाने कौन-सा जादू तेरी जुबाँ में था॥

सुशील कुमार शर्मा
१७६, दिलबाग नगर
जालन्धर.

श्रद्धाञ्जलि

दो सदियों के प्रकाश पुञ्ज
गौ मालिक गौ भक्त
धर्म रक्षक
एक युग पुरुष
गरीबों के मसीहा
राष्ट्र निर्माण के हितैषी
आर्य जगत् के चमकते सितारे
सर्व धर्म प्रिय
अनमोल व्यक्तित्व के मालिक
कर्ण जैसे दानी
ऊँचाइयों को छूने वाले
निर्भय वक्ता
निष्ठावान्, कर्मशील, क्रान्तिकारी
भारत माता के महान् सपूत
इस धरती के लाल
पण्डित श्री हरबंसलाल जी शर्मा

के चरणों में बार-बार लाख प्रणाम। धरती वासी से अब आप वैकुण्ठ धाम के वासी हुए। परम पिता परमात्मा के चरणों में ही आप का असली स्थान था। आपकी युगों की तपस्या पूर्ण हुई। आप ऋषि-मुनियों, महात्माओं जैसे ही देव लोक गमन हुए हो, आपने मृत्यु

को प्राप्त नहीं किया, शरीर त्यागा है। आपने अपना नाम शुभ कर्मों से अमर किया है। आपकी नेक औलाद आपके सुपुत्र सुदर्शन जी, सुरेश जी, नरेश जी आपके गौरव को बनाये रखने में आपके पुत्रों में सभी गुण हैं। यह आपके नाम को और अपने नाम को सूर्य की भाँति चमकाये रक्खेंगे। आपकी तरह देश, धर्म, समाज, मानवता, शिक्षा जगत् की सेवा करते हुए कर्मठ उद्योगपति बनेंगे। दानी, कल्याणी बनेंगे और पूरे विश्व में आपका नाम चमकेगा। आपको सच्ची श्रद्धाञ्जलि यही है कि हम भी आपके इस महान् उच्च स्तर, उच्च चरित्र, महादानी के जीवन से कोई इस मानवता के लिये, इस भारतवर्ष के नेक काम करके दिखायें। अगर हम परमात्मा की कृपा से नेकी करेंगे तो तभी हम समझेंगे कि हमने आपको सच्ची श्रद्धाञ्जलि दी है। नेक काम करने के लिये हम आपके शुभ आशीर्वाद की कामना करते हैं।

भावना

चौ० राम कुमार

दि जालन्धर आइरन एण्ड

स्टील मर्चेण्ट एसोसिएशन

जालन्धर.

श्रद्धाञ्जलि

कर्मवीर, धर्मवीर एवं योगीराज श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा, जो सफेद वस्त्रों में महात्मा का रूप धारण कर, इस संसार में आये। इस कर्म भूमि पर महर्षि दयानन्द जी के उपदेशों-निर्देशों के अनुसार इस परम पवित्र भारतवर्ष की पावन धरती पर अपने उपकारों, अपनी सहनशीलता, अपनी सुन्दर सूझ-बूझ, अपनी दानवीरता, अपनी कर्मशीलता, अपनी वीरता को परम पिता परमात्मा की आज्ञा के अनुसार पूर्ण किया और उस नाशवान् शरीर को छोड़कर अपने असली घर परम पिता परमात्मा के चरणों में वैकुण्ठ धाम चले गये, ऐसे महान् दानी, कल्याणी थे हमारे परम पूज्य आदरणीय परम वन्दनीय कर्मवीर, धर्मवीर, हर दिल अजीज श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा। पं० हरबंसलाल जी शर्मा का दूसरा उपकार इस भारतवर्ष, इस पंजाब जालन्धर और मानवता के ऊपर है वह है-उनकी परछाईयाँ जो पुत्रों के रूप में हैं। श्री सुदर्शन जी, श्री सुरेश जी, श्री नरेश जी यह हमारे भाई अपने नेक पिता की तरह हजारों परिवारों को रोजगार दे रहे हैं। हर धर्म-कर्म के काम में, स्कूल बनवाने में, मन्दिर बनवाने, हस्पताल बनवाने में यह शर्मा परिवार अपने पिता की आज्ञा के अनुसार आगे रहता है। श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा मृत्यु को प्राप्त नहीं हुए, वरन् इन्होंने अपनी इच्छा शक्ति से इस मानवी चोले को त्यागा है। इनकी प्रेरणा, इनके आदर्श हमेशा हमारे दिलों में राज करेंगे। इनका नाम अमर रहेगा। हम आपके नेक परिवार को आपके आदर्शों पर चलने के लिये नहीं कह सकते, क्योंकि वह तो पहले से ही आपके आदर्शों को बहुत अच्छी तरह निभा रहे हैं। हम आपको विदा करते हुए भी आपसे कुछ मांगते हैं कि आप अपने परम पिता परमात्मा के चरणों में इस सांसारिक आवागमन को त्याग कर बैठे हैं। हमें भी ऐसा आशीर्वाद देना कि आप जैसे नेक कामों से हम कुछ अच्छा कर आपकी दी हुई श्रद्धाञ्जलि का कुछ प्रण पूरा कर सकें। आपको सच्ची श्रद्धाञ्जलि यही है कि हम सब लोग आपकी तरह नेकियाँ करें।

आपने शिक्षा जगत्, व्यापार जगत्, औद्योगिक क्षेत्र, चकतिश क्षेत्र को जिस आकार में आसमान की ऊँचाइयों तक पहुँचाया है, आपके बच्चे भी ऐसा ही करें। आपका परिवार दिन-

दुगनी रात चौगुनी उन्नति करे। देश, समाज, धर्म, मानवता का कल्याण कर आपके नाम को रोशन करें। यही हमारी आपको सच्ची श्रद्धाञ्जलि है।

एक लफज आपकी माता जी के लिये-

जननी जने तो भक्त जन या दाता या शूर।
नहीं तो जननी बाँझ भली काहे गँवाया नूर॥

आप भक्त भी थे, दानी भी थे, शूरवीर भी थे, आपने अपनी माता की कोख को भी धन्य किया है। आदरणीय पण्डित जी देवी तालाब मन्दिर के सदस्य तथा सेवादार आज आपके बगैर अपने आपको अकेला महसूस कर रहे हैं।

विनोद गुप्ता एवं राजेश विज
प्रधान व मन्त्री
श्री देवी तालाब मन्दिर प्रबन्धक कमेटी
जालन्धर.

श्रद्धाञ्जलि

परम आदरणीय परम प्रिय हर दिल अजीज श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा काल धर्म को प्राप्त हो गये। जहाँ गऊशाला के मेम्बर अधिकारी आपकी याद में आँसू बहाते हैं, वहीं आज मूक गायों की आँखों में भी आँसू देखे गये हैं। एक खास बात तो हम कभी नहीं भूल सकते। वह है लाला हरबंसलाल शर्मा जी कृष्ण भगवान् तो नहीं थे, परन्तु इस गऊ माता के लिये वह भगवान् कृष्ण के रूप में ही काम किया करते थे। हमने अपनी जिन्दगी में गऊ माता के लिये धन जो हरे चारे (पट्ठे के रूप में देते थे) ऐसे दानी नहीं देखे, ना ही सुने थे। श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा आप महान् परम ज्ञानी थे। आपने अपने आपको अमर किया है। आप आर्य धर्म के प्रविष्ट महान् व्यक्तियों में से एक थे। पूरे भारतवर्ष में आपने आर्य जगत् में अपना नाम रोशन किया है। आप उच्च चरित्र वाले महान् व्यक्तित्व के मालिक थे। आप मृदुभाषी, सदाचारी, कल्याणकारी, उच्च स्तर के कारोबारी थे। आपने भारतवर्ष और पंजाब में बड़ी-बड़ी संस्थाओं में बड़े-बड़े काम किये हैं और ठीक कार्यशैली से अपने नाम का सिक्का जमाया।

शीतल बिज चेयरमैन

रविन्द्र कक्कड़ प्रधान

गऊशाला पिंजरा पोल

श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा: इस युग के दयानन्द

गुरुवर विरजानन्द जी के शिष्य महर्षि दयानन्द जी सरस्वती ने सारे भारत में वेद का प्रचार-प्रसार किया तो श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा भी इस युग के दयानन्द थे, जिन्होंने अपना सारा जीवन वेद प्रचार में लगाया। लाखों पुस्तकें छपवाकर स्थान-स्थान पर प्रचारार्थ बँटवाईं। गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार तथा गुरुकुल करतारपुर जैसी संस्थाओं में बच्चों को संस्कृत व वेदविद्या का ज्ञान दिलाकर हजारों शास्त्री तथा संस्कृत के विद्वान् तैयार किए। तो क्या श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा इस युग के महात्मा हंसराज हुए? उनका जीवन शिक्षा की खुली किताब है, उनके जीवन से बहुत सी शिक्षायें मिलती हैं, सादगी, मिलनसारी, सेवाभाव, दानवीरता, त्याग-तपस्वीपन, मीठी वाणी, सरल स्वभाव इत्यादि उनके जीवन का प्रभाव उनके सभी बच्चे सुदर्शन जी एवं सभी परिवार पर पूरा-पूरा है। उनकी धर्मपत्नी जी ने भी सारी आयु उनका साथ निभाया जो अतिथि उनके घर गया, विना सत्कार पाये हुए कभी वापिस नहीं आया।

उनके प्यारे बेटे भी इन्हीं भावनाओं से जुड़े हुए हैं। हमें विश्वास ही नहीं पूरी आशा है कि उनके बच्चे उनके पदचिह्नों का अनुकरण करेंगे ताकि संस्थाएँ उनकी भावनानुसार चलती रहें।

प्रधान, महर्षि दयानन्द मॉडल स्कूल

अलावलपुर, (जालन्धर).

आर्य जगत् के भामाशाह: पं० हरबंसलाल शर्मा

श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा बहुत ही मृदुभाषी, मिलनसार और सरल स्वभाव वाले व्यक्ति थे। वैदिक धर्म व आर्य समाज में बचपन से ही गहरी निष्ठा और अगाध श्रद्धा थी। इसके प्रचार व प्रसार के लिये अपना तन-मन-धन सब समर्पित कर दिया। आपके परिवार व बच्चों में यह शुभ संस्कार कूट-कूट कर भरे हुए हैं। आपने आर्य समाज की नींव को गहरा और दृढ़ बनाया। आपके नेतृत्व तथा पथ-प्रदर्शन में तमाम आर्य संस्थाएं उन्नति की ओर अग्रसर हुईं। दानशीलता का महान् गुण आपके रोम-रोम में बसा हुआ था। आप जहाँ भी जाते दिल खोलकर दान देते। इसी कारण आप आर्य जगत् में '**भामाशाह**' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

परन्तु विधि का विधान अटल है, ईश्वर की इच्छा के आगे नतमस्तक होना पड़ता है। इस महान् विभूति के चले जाने से होने वाली क्षति को कभी पूरा नहीं किया जा सकता। शरीरान्त हो जाने पर भी आप अपने महान् सद्गुणों के कारण सदैव अमर रहेंगे।

प्रबन्धक एवं प्रिंसिपल
आर्य गर्ल्ज सीनियर सैकण्डरी स्कूल
मोगा.

वर्त्तमान युग के भामाशाह: पं० हरबंसलाल जी शर्मा

श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा एक सरल हृदय व्यक्ति थे। आपने अपने जीवन में आर्य गुणों को धारण करते हुए महर्षि दयानन्द जी सरस्वती के मन्तव्यों को देश-विदेश में प्रचार-प्रसार किया। आप एक महान् आर्य समाजी थे, वहीं आप तेजस्वी आर्य नेता भी थे। आप जैसे व्यक्ति की आज देश और विश्व को महती आवश्यकता थी। पण्डित जी ने अपने सुन्दर एवं कुशल नेतृत्व से आर्य ध्वज को हमेशा ऊँचा रक्खा। जहाँ भी आपकी आवश्यकता महसूस की जाती, वहाँ आप उपस्थित होकर उनकी आवश्यकतानुसार सहायता करते थे। आप अपनी पवित्र कमाई का एक विशाल भाग समाज के ऊपर व्यय करते थे। आपने मुक्त हस्त से संस्थाओं, समाजों तथा व्यक्तियों को दान किया, जिसके चलते आपको भामाशाह की उपाधि प्रदान करना अतिशयोक्ति नहीं होगी।

समस्त अधिकारी
आर्य समाज मालेर
कोटला

श्री पं० हरबंसलाल शर्मा: आर्य समाज के एक समर्पित नेता

आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के प्रधान श्रीयुत् पं० हरबंसलाल जी शर्मा के चले जाने से आर्य जगत् में घोर अन्धकार छा गया है, कहीं कोई कल्याण का मार्ग दूर-दूर तक नजर नहीं आ रहा है। मानो विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ा हो। दिवंगत श्री वीरेन्द्र जी के बाद आर्य समाज की डूबती नैय्या को सम्हालने वाली पतवार बने थे श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा। चारों ओर अब निराशा ही निराशा है। एक-एक करके सभी अधर में छोड़कर चले गये। यदि आय के लेन-देन का हिसाब हो तो हम अपनी आय साझी कर लेते, पर ऐसा नहीं हो पाता। ऐसा समर्पित नेतृत्व, संरक्षण व मार्गदर्शन वर्षो तक सम्भव नहीं हो पावेगा। आओ सारे भिक्षुक बनकर परम पिता से दिवंगत आत्मा की शान्ति व सद्गति की भीख माँगें। प्रभु कृपा से ही आशा की कोई किरण दिखाई देगी जो इस विशाल आर्य परिवार का मार्ग प्रशस्त करेगी।

तुम नहीं तो महफिल में अन्धेरा सा है।
लाख चिराग जलायेंगे रोशनी के लिये॥

विशेष शर्मा
मोहाली

आर्य समाज के गौरव: श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा

श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा के हमारे बीच से चले जाने का अत्यन्त दु:ख है। वे आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के गौरव थे। उनके जाने से इतना नुकसान आर्य समाजों का हुआ है, जो कभी पूरा नहीं हो सकता। वे महादानी और बड़े नम्र स्वभाव के थे। उनको अपनी प्रशंसा छू तक नहीं गई थी, उनका दान भारत के गुरुकुलों, अनाथ आश्रमों, वानप्रस्थाश्रमों और दूसरी संस्थाओं को भी जाता था। इसलिये परमेश्वर ने उन्हें धन बहुत दिया। एक बार करतारपुर में एक लाख रुपया दिया और एक लाख और देकर कहा कि यह रुपया मुझे इंग्लैंड में किसी ने दिया था, इतने में ही श्री चतुर्भुज मित्तल खड़े हुए, उन्होंने कहा कि वह जो दूसरा एक लाख रुपया है, वह भी पण्डित जी ने ही दिया है, पण्डित जी मेरा हाथ पकड़ रहे हैं कि बताओ नहीं। मैं भी कई जगह तपोवन आदि में उनसे मिला, जहाँ उनका दान पहुँचता था, ऐसे महादानी को आर्य समाज पटियाला की ओर से शत-शत प्रणाम।

मन्त्री आर्य समाज चौक
पटियाला.

पण्डित श्री हरबंसलाल जी शर्मा: एक महान् ऋषिभक्त

परम पूज्य पण्डित श्री हरबंसलाल जी शर्मा प्रधान, आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब बीसवीं शताब्दी के एक महान् ऋषिभक्त आर्य समाजी नेता हुए हैं। उनके दिल में समाज के गरीब पिछड़े हुए लोगों के प्रति अपार स्नेह था। उनका सारा जीवन इस समाज के दीन-दु:खियों के प्रति समर्पित था और उनके द्वार पर जो भी व्यक्ति किसी भी कार्य में सहायता प्राप्त करने के लिये गया, कभी खाली हाथ वापिस नहीं मुड़ा। उनका व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली था। मुझे उनसे दो बार मिलने और उनके विचारों को सुनने का अवसर मिला। एक बार गुरदासपुर के निकट बरनाला गाँव में आर्य समाज के उत्सव पर तथा दूसरी बार अमृतसर में गुरु नानक स्टेडियम में मनाये जाने वाले महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के जन्मदिवस के अवसर पर। वह एक उच्चकोटि के महान् दानी एवं सज्जन भी थे। मैं अपनी ओर से इस क्षेत्र की सभी आर्य शिक्षण संस्थाओं, आर्य समाजों तथा आर्य युवक परिषदों की ओर से इस महान् आत्मा को श्रद्धाञ्जलि भेंट करता हूँ तथा परम पिता परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि वह पण्डित जी के परिवार को उनके पदचिह्नों पर चलने व आर्य समाज के माध्यम से महर्षि के संदेश को घर-घर पहुँचाने को प्रेरित करे।

प्रिंसिपल राजकुमार कपूर
प्रधान आर्य समाज
पट्टी, पंजाब.

दानवीर एवं धर्मवीर: श्री पं० हरबंसलाल शर्मा

श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा की दानवृत्ति सदैव स्मृति पटल पर अंकित रहेगी। उन्होंने कई एक आर्य समाज व गुरुकुलों का उद्धार किया व उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान की। हमारी आर्य समाज के स्थान के लिये जो आर्थिक सहायता प्रदान की, हम उसके लिये उनका आभार प्रकट करते हैं।

श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा ने आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब की बड़ी योग्यता व दक्षता से सेवा की और गुरुकुल काँगड़ी के कुलाधिपति पद को सुशोभित किया। गुरुकुल की भूमि हड़पने वालों के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही करके भ्रष्ट अधिकारियों को पदों से हटाया। ऐसे निर्भीक दानवीर एवं धर्मवीर श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा को हमारा शत-शत नमन।

राजकुमार शर्मा
आर्य समाज
सन्देश विहार, पीतमपुरा
दिल्ली-११००३४

एक तारा जो डूब गया पर छोड़ गया अलौकिक प्रकाश

जो भी जीव इस संसार में जन्म लेता है, उसी दिन उसकी मृत्यु का दिन भी तय हो जाता है, इस परम सत्य को जानकर भी सभी जीवों में श्रेष्ठ मनुष्य जीव सिर्फ अपने लिये ही जीना चाहता है व सारी जिन्दगी संघर्ष में ही निकाल देता है, जो उसके पास है उसका आनन्द न उठाकर दूसरों से ओर अधिक पाने की लालसा में वह अपना सच्चा आनन्द (सुख) भी लुटा बैठता है। परन्तु जिस प्रकार से शरीर की पाँच अंगुलियाँ भी समान नहीं होती हैं, उसी प्रकार से सभी मानव भी इसी तरह के नहीं होते हैं। कुछ अपने जीवन काल में ऐसे कार्य कर जाते हैं, जिनकी वजह से उनको भूल पाना असम्भव हो जाता है, जिनको समय का चक्र भी भुलाने में नाकाम रहता है। ऐसे ही एक महान् व्यक्तित्व के धनी श्री पं० हरबंसलाल शर्मा, जो कि पंजाब की पृष्ठभूमि से उठे और उन्होंने इस बात को सच कर दिखाया कि पंजाब सही मायने में शेरेदिलों को जनने वाली भूमि है, चाहे वह किसी भी क्षेत्र में हो, चाहे वो क्षेत्र देशभक्ति का हो, आर्थिक उदारता का हो या फिर औद्योगिकीकरण का। पंजाब ने सदा ही देशभक्ति व देश सेवा में अपने को विना किसी भी क्षेत्रवाद के भेद से ऊपर रक्खा है।

श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा ने आजीवन मानव सेवा को अपना आदर्श माना व सारा जीवन उसी की सेवा में समर्पित कर दिया। उन्होंने सदा सादा जीवन व्यतीत किया व दूसरों की सेवा में हमेशा बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। आप भौतिक आडम्बरों से दूर आर्य समाज में सच्ची निष्ठा रख समाज के दु:खों को दूर करने व बुराइयों के खिलाफ संघर्षरत रहे। एक सरकारी नौकरी से अपना जीवन प्रारम्भ करने वाले प्रतिभा के इस महान् व्यक्तित्व ने अपनी मेहनत के कौशल पर विशाल उद्योग खड़ा किया व इनकी सेवाभावना ने इन्हें आर्य समाज की महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारियाँ सौंपी, जिन्हें इन्होंने कुशलता पूर्वक आजीवन निर्वाह किया। आप अपने जीवन की अन्तिम सांस तक समाज सेवा में संलग्न रहे।

आज सारा आर्य जगत् उनके चले जाने से हिल गया है, परन्तु जैसा कि समय का चक्र है कि वह किसी के लिये रुकता ही नहीं है। अपनी गति से चलता रहता है। समय तो आज भी चल रहा है, परन्तु वह महान् पंजाब का सपूत, आर्य जगत् का रत्न, अपने कार्यों (सेवाभाव) से जो अलौकिक प्रकाशरूपी मार्ग दिखा गया है, वह हम सभी के जीवन को सदैव प्रकाशमान रखेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। **''मनुष्य वही जो सदैव दूसरों के काम आये''** इस मन्त्र को मूलमन्त्र मानने वाले पण्डित जी के इस महाव्रत को अगर हम लेशमात्र भी अपने जीवन में उतार लें तो उनके द्वारा प्रकाश कभी बुझ न पायेगा।

कुलभूषण शर्मा
पुस्तकालय विभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार.

श्री पं० हरबंसलाल शर्मा: महान् एवं विशाल हृदय के स्वामी

श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा के जीवन की ओर झांकी डालें तो किञ्चित् भी सन्देह नहीं है कि उनका जीवन एक आदर्श जीवन था। दु:खियों का दु:ख दूर करना उनके जीवन का लक्ष्य था। दान देने में सदा अग्रसर रहते थे और उनके विशाल एवं महान् हृदय के सौजन्य से ना जाने किन-किन व्यक्तियों की डूबती नैया को किनारे लगाया। अस्वस्थ होते हुए भी उन्होंने बड़े सुन्दर ढंग से आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब की बागडोर सम्भाले रक्खी।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार का नेतृत्व करके कुलाधिपति के रूप में नया मोड़ दिया। स्व० श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा के कारण ही गुरुकुल की बेची हुई भूमि वापिस लिये जाने की आशा हर न्यायप्रिय व्यक्ति के मन में उत्पन्न हो गयी है।

शर्मा जी के जाने से एक ऐसी क्षति हुई है, जिसकी पूर्ति नहीं हो सकती है। यह क्षति केवल शर्मा जी के परिवार की क्षति नहीं है, बल्कि समस्त आर्य जगत् अपने को लुटा हुआ महसूस कर रहा है। हम सब आश्रमवासी इस दु:ख में इस परिवार के साथ हैं।

डॉ. सुभाष चन्द जसूजा
प्रधान, आर्य वानप्रस्थाश्रम
ज्वालापुर.

श्री पं० हरबंसलाल शर्मा: एक यज्ञमय जीवन

सजल नेत्र नमन कर रहे,
उस महापुरुष को।
आर्य समाज रूपी यज्ञ में,
होम कर दिया अपने जीवन को।
निज सुगन्धि से महकाया,
जिसने आर्य समाज के उपवन को॥

प्रधान व मन्त्री, आर्य हाई स्कूल
गुरु नानक नगर
पटियाला.

आर्य जगत् के युग पुरुष: श्री पं० हरबंसलाल शर्मा

श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा आर्य जगत् के युग पुरुष थे, उनको सभी भामाशाह भी कहते थे। उनकी बातें आज भी हमारे कानों में गूँजती हैं। वे कहते थे कि मैं कौन हूँ देने वाला, वह मुझे दे रहा है, मैं आगे दे रहा हूँ। मैं तो एक चौकीदार के रूप में हूँ। आर्य समाज शहीद भगत सिंह नगर से उनका विशेष लगाव था। इस समाज की नींव श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा ने रक्खी थी। इनका परिवार सही मायने में आर्य परिवार है। इनके बड़े सुपुत्र श्री सुदर्शन शर्मा जी, सुरेश जी व नरेश जी राम, लक्ष्मण व भरत की तरह हैं। आर्य समाज का सारा भार अब श्री सुदर्शन शर्मा जी के कन्धों पर आ गया है। वे भी इसी प्रकार अपने पिता के पदचिह्नों पर चलकर आर्य जगत् की सेवा कर रहे हैं।

रणजीत आर्य, मन्त्री
आर्य समाज शहीद भगत सिंह नगर
जालन्धर.

आर्य समाज के सच्चे सेवक: श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा

श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा ने अपने जीवन में सादगी को अपनाया और विचारों को सदा उच्च रखा। वे सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक संस्थाओं से सम्बन्ध रखते थे। उनके साथ वे एक परिवार की भाँति जुड़े हुए थे और वे धर्मनिष्ठ और ईश्वर के प्रति आस्था रखने वाले थे। उन्होंने अपने आपको एक सेवक समझा, जिस संस्था से भी ये जुड़े, उनकी इन्होंने सच्चे हृदय से सेवा की। ये दानी थे, अक्सर कहते थे कि मैं तो भगवान् का भेजा गया डाकिया हूँ, क्योंकि भगवान् मुझे देता है तो मैं उसे संस्थाओं को देता हूँ।

आर्य सभा प्रधान श्री वीरेन्द्र जी के देहान्त के बाद इन्होंने पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान के रूप में कार्य भार सम्भाला। पूरी लगन और परिश्रम से इसे निभाया। उनकी इच्छा थी कि पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा संगठित रहे और इसमें उन्हें सफलता भी मिली।

ये गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार के कुलाधिपति रहे। इन्हें गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय से विशेष लगाव था तथा उसकी चिन्ता उन्हें सदैव रहती थी। अपनी बुद्धि और परिश्रम के बल से ये स्वयं गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार के कुलाधिपति बने और आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के मन्त्री प्रिंसिपल श्री स्वतन्त्र कुमार जी को उसका कुलपति बनाया। ये हमारे गौरव की बात है। आर्य जगत् को श्री सुदर्शन शर्मा एवं उनके भाइयों से अपेक्षा है कि वे अपने पूज्य पिता के पदचिह्नों पर चलते हुए उनके अधूरे रह गये कामों को पूरा करने में सदा अग्रसर रहेंगे।

समाज के प्रति श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा द्वारा की गयी सेवायें चिरस्मरणीय और अविस्मरणीय रहेंगी। उनका व्यक्तित्व हमारे लिये सदैव प्रेरणा का स्रोत रहेगा।

जनकराज महाजन प्रधान
आर्य समाज जालन्धर छावनी, जालन्धर.

आर्य जगत् के प्रपितामह एवं महादानी: श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा

आर्य जगत् के प्रपितामह महादानी श्री पं० हरबंसलाल जी शर्मा सदा के लिये अपनी जीवन यात्रा को पूरी करके इस संसार से विदा हो गये हैं। सामाजिक क्षेत्र में वे मानवता के सच्चे सेवक थे। मुझे उनके जीवन को नजदीक से देखने का अवसर मिला। उनका जीवन शिक्षा की एक खुली किताब है। उन्होंने अपनी शिक्षा का जो प्रभाव अपने परिवार, बच्चों एवं आर्य जगत् पर छोड़ा है, वह सदैव आर्य जगत् में स्मरणीय रहेगा।

उन्होंने दान दान के क्षेत्र में जो कार्य किया, वह अवर्णनीय है। वे सदैव अपने आपको परमात्मा का पोस्टमैन कहा करते थे और कभी भी दान की आवश्यकता जहाँ कहीं पर पड़ी उन्होंने दिल खोलकर दान दिया।

हजारों स्नातक, विद्यार्थी डी. ए. वी. संस्थानों, गुरुकुलों में शिक्षा दिलवाकर योग्य विद्वान् नागरिक तैयार किए, उन्होंने चहुँमुखी रूप में कार्य किया। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनके चरण पड़े। सादगी, विनम्रता, मिलनसारी, सेवाभाव, दानवीरता, त्याग-तपस्या, सरल स्वभाव उनके जीवन के अटूट अंग थे। उनके प्यारे बेटों पर भी उनके आदर्श उनके सद्गुण के दर्शन होते हैं।

प्रधान, श्रीमद् दयानन्द धर्मार्थ

आयुर्वैदिक औषधालय, अलावलपुर

जिला-जालन्धर.

Pt. Harbans Lal Sharma: an eminent educationist

An ardent Arya Samajist and an eminent educationist, Pt. Harbans Lal Ji Sharma has been an integral part of various educational and religious institutions all over Punjab. His Contribution as Chancellor of Gurukul Kngri Viswavidyalaya, Hardwar and President of Arya Pratinidhi Sabha can never be forgotten. He was a dedicated and devout worker of Arya Samaj and an able administator. He is held in very high esteem by the person who came into contact with him. He made valuable contribution for the upliftment of various educational and social orgnizations and also Shri Devi Talab Mandir, Jalandhar. He used to donate generously and liberally to all the institutions and religious bodies.

Gfted with exemplary enthusiasm, Pt. Harbans Lal Ji Sharma worked tierelessly for the cause of Arya Samaj and women education. Active, energetic, and far-sighted, his contribution as an eminent educationist will be long remembered with love, reverence and gratitude. His simplicity, his maral courage, and his sacrifices for the cause of edution almost create a halo around his personlity.

Pt. Harbans Lal Ji Sharma's dedication and devotion will continue to be a source of inspiration to us all. The passing away of such a multi-dimensional personality has created a void hard to fill.

President and Secretary

Arya Pradeshik Pratinidhi Upsabha, Punjab.

The grandfather of Punjab Arya Samaj

Shri Harbans Lal Sharma, the grandfather of Arya Samaj of Punjab and north India, was the source of inspiration and strength to Arya brotherhood in the whole region. His contribution to the ideals of Arya Samaj and service and guidence to Arya educational institutiions will be long remembered. His philanthopic nature endeered him to everyone in the Arya Samaj fraternity. Being the Mesiah of Gurukuls in the country, his passing away has created an unbridgeable void in Arya Samaj.

Arya College, Ludhiana fondly recalls help patronage provided by Shri Harbans Lal Sharma to the institution. He has been the Administrator of Arya College, Ludhiana and guided its destiny directly under his benign command. The College cannot ever forget his cntribution to the cause of edution.

Principal

Arya College, Ludhiana.

श्रद्धांजलि

श्री हरबंसलाल शर्मा थे,
आर्य जगत् के भामाशाह।
जिनके वृद्ध कलेवर में था,
नवयुवकों जैसा उत्साह।
शिक्षा, धर्म और संस्कृति का,
करने को प्रतिपल उत्थान।
किया जिन्होंने मुक्त हस्त हो,
सत्त्वार्जित लक्ष्मी का दान।
यज्ञ, दान, तप तीन धर्म थे,
जिनके जीवन के आधार।
दीन–हीन की अक्षम सेवा,
थी जिनके चिन्तन का सार।
सतलज, व्यास पार कर जिनकी,
कीर्ति गई गंगा के पार।
तन, मन, धन से किया जिन्होंने,
देवभारती का शृङ्गार।
गुरुकुल जिनका पुण्यधाम था,
गुरुकुल ही थी जिनकी शान।
कीर्तिशेष उस कर्मवीर ने,
किया हाय क्यों महाप्रयाण ?

०२-१२-२००२

डॉ० विष्णुदत्त राकेश
पूर्व मानविकी संकायाध्यक्ष
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

खण्ड- २

गुरुकुल-शिक्षा-दर्शन

वेदमञ्जरी

अहं त्वां स्तविष्यामि

स्तविष्यामि त्वामहं विश्वस्यामृत भोजन।
अग्ने त्रातारममृतं मियेध्य यजिष्ठं हव्यवाहन॥ ऋ० १.४४.५.

ऋषि: प्रस्कण्व: काण्व:। **देवता** अग्नि:। **छन्द:** बृहती।

हे (अमृत) अमर, सदामुक्त, (विश्वस्य भोजन) विश्वस्य भोजरूप पालक वा, (मियेध्य) दु:खानां प्रक्षेप्त:, (हव्यवाहन) प्राप्तव्यानां द्रव्याणां प्रापक, (अग्ने) अग्रनायक तेजोमय परमात्मन्! (त्रातारम्) त्राणकर्त्तारम्, (अमृतम्) पीयूषतुल्यम्, (यजिष्ठम्) सर्वाधिकयज्ञकर्तारम्, (त्वाम्) भवन्तम्, (अहम्) अहम्, (स्तविष्यामि) स्तुतिविषयीं करिष्यामि।

अयि मम अग्रनेत: तेजस्स्वरूप परमेश्वर! अहं त्वां स्तविष्यामि, त्वदीयान् गुणान् कीर्तयिष्यामि, त्वाम् आराधयिष्यामि। तव स्तुतिम् अहं तव हिताय न प्रत्युत स्वहिताय स्वकल्याणाय च कर्तुमिच्छामि। श्रूयते यद्भगवान् भक्तस्य स्तुत्या प्रसीदति, तस्मै सर्वस्वं च प्रयच्छति। अद्य अहमपि तस्य परीक्षणं कर्तुमीहे।

अयि भगवन्! त्वम् अमृतोऽसि, अमरोऽसि, सदामुक्तोऽसि। अमरस्तु मदीय आत्माप्यस्ति, किन्तु मयि त्वयि च महदन्तरम्। मदीय आत्मा अमरोऽपि सन् जन्ममरणबन्धने पतति, त्वं तु सनातनकालाद् अस्माद् बन्धनान्मुक्तोऽसि। त्वं विश्वस्य भोजनमसि। साधुजना: कथयन्ति यत् ते भौतिकभोजनं विना तु किञ्चित् कालं जीवितुं शक्नुवन्ति, परं भवदीयभक्तेर्भोजनं विना न जीवितुं शक्ता भवन्ति। त्वं विश्वपालकत्वादपि विश्वस्य भोजनम् उच्यसे (भुज पालनाभ्यवहारयो:)। त्वं मियेध्योऽसि, दु:खार्तानां दु:खस्य प्रक्षेप्ता वर्तसे

(डुमिञ् प्रक्षेपणे) महान्त्यपि दु:खानि त्वं तेषां सकाशात् तथा दूरं प्रक्षिपसि यथा पवनस्तृणानि। त्वं हव्यवाहनोऽसि समस्तानां प्राप्तव्यानां पदार्थानां प्रापयितासि। त्वं त्रातासि, विपद्भ्यस्त्राणकर्त्ता वर्तसे। वेदस्त्वाम्। अस्मिन्नेव मन्त्रे पुन: **'अमृतं'** कथयति। यतस्त्वं भक्तजनाय पीयूषतुल्योऽसि सुधारसोऽसि। त्वम् **'यजिष्ठ:'** असि, यष्टृतमो विद्यसे, यतस्त्वम् अखिलस्य ब्रह्माण्डस्य सञ्चालनरूपं यज्ञं निर्वहसि। वयं यजमानास्तु लघूनामेव यज्ञानाम् आयोजनं कुर्म:, तानपि महता काठिन्येन निर्विघ्नं पूरयाम:। किन्तु त्वं सकलस्य विघ्नस्य जननधारणपालनरूपं सुविशालं यज्ञं निष्पादयसि।

हे जगदीश्वर! मया तव केवलं स्तुति: कृतास्ति याचना न कापि विहिता। यदि त्वं प्रसन्नोऽसि, कञ्चिद् वरं च याचितुं कथयसि, तर्हि एतदेव वरदानं कुरु यत् त्वं मामपि स्वसदृशं विश्वपालकं विश्वत्रातारम्, दु:खहर्तारम्, यश:शरीरेण अमरम्, यज्ञकर्त्तारम्, हव्यवाहकं च विधेहि।

आचार्य रामनाथवेदालङ्कार:

वेदों में शिक्षाशास्त्र के कतिपय सूत्र

डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार

वैदिक विचारधारा के अनुसार बालक शैशव पार कर, मातृमान् और पितृमान् बन आचार्यवान् होने के लिए गुरुकुल में प्रविष्ट होता है तथा आचार्य-रूप अग्नि में अपने आपको समिधा बनाकर ज्ञानज्योति से प्रदीप्त हो जाता है। प्रथम आश्रम शिक्षा का आश्रम है। वेदों का अध्ययन करते हुए उनमें हमें शिक्षाशास्त्र के कई उपयोगी सूत्र प्राप्त होते हैं।

शिक्षक के गुण

अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त में आचार्य को मृत्यु, वरुण, सोम, ओषधि और पयः कहा गया है।[१] इससे शिक्षक के गुणों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। शिक्षक को **'मृत्यु'** होना चाहिये, उसके अन्दर मार सकने का सामर्थ्य होना चाहिये। विद्यार्थी यदि कोई कुसंस्कार लेकर आया है तो उन्हें मारे बिना वह उसका निर्माण नहीं कर सकता। जो आदर्श माता-पिता की सन्तान होते हैं तथा सब प्रकार के कुप्रभावों से दूर होते हैं, ऐसे उत्तम विद्यार्थी शिक्षक को सदा नहीं मिल पाते। जिन कुसंस्कारों को साथ लेकर विद्यार्थी आते हैं वे कई प्रकार के हो सकते हैं। कइयों का शब्दोच्चारण दूषित होता है, कई मिथ्या ज्ञान लेकर आते हैं। वायु क्यों चलती है? आँधी क्यों आती है? सूर्य-चन्द्र का ग्रहण क्यों होता है? भूकम्प क्यों आता है? इस प्रकार की बातों का उत्तर आप नवप्रविष्ट बालकों से पूछिए तो कई मनोरंजक अज्ञान की बातें सुनने को मिलेंगी। उदाहरणार्थ-एक बालक से पूछा गया कि वायु क्यों चलती है? उसने बताया-एक बहुत बड़ा दैत्य है, जिसका सिर आकाश छूता है, उसके मुख की फूँक

---

१. अथर्व० ११.५.१४. आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः। जीमूता आसन् सत्वानस्तैरिद स्वराभृतम्॥

की यह हवा है; जिस दिशा में जाकर वह फूँक मारता है उसी दिशा से हवा आती है। फिर कई नैतिक दृष्टि से कुसंस्कार भी बालकों में होते हैं, जैसे असत्य भाषण, चोरी आदि। सफल शिक्षक वह है जो मृत्यु बनकर विद्यार्थी के सब कुसंस्कारों को मार सके। मारना भी एक कला है। शिक्षक को अवश्य ही इस कला में निपुण होना चाहिए। इसके लिए उसे एक अच्छा बालमनोविज्ञानवेत्ता होना आवश्यक है।

शिक्षक का दूसरा गुण है **'वरुणत्व'**। वरुण वेद के प्रथित देवों में से एक है। उसके पास सैकड़ों-सहस्रों पाश हैं; उसके अनेकों गुप्तचर हैं, जो सहस्राक्ष होकर सर्वत्र घूमते हैं। उनकी दृष्टि से कुछ भी नहीं छिपता। ज्यों ही कोई व्यक्ति पाप करता है त्यों ही गुप्तचर देख लेते हैं और वरुण अपने पाश में उसे बाँध लेता है। शिक्षक में भी यह गुण होना आवश्यक है। शिक्षक की दृष्टि बहुत पैनी होनी चाहिए। उसे छात्रों की प्रत्येक गतिविधि का परिचय होना चाहिए। छात्र कौन-सी अच्छी या बुरी आदतों में पड़ रहा है, जिनमें उसे उत्साहित या अनुत्साहित करने की आवश्यकता है, उसे यह ज्ञात होना चाहिए। अपने प्रत्येक छात्र पर ऐसी सूक्ष्म दृष्टि रखने वाला तथा आवश्यकतानुसार अंकुश रखकर छात्र को बुराई से बचानेवाला शिक्षक ही वरुण है।

फिर शिक्षक को **'सोम'** होना चाहिए। सोम का अर्थ चाँद। शिक्षक चाँद के समान सौम्य, आकर्षक एवं प्रिय हो। जैसे चन्द्र से सब आह्लादित होते हैं, वैसे ही छात्र शिक्षक के सान्निध्य में आह्लाद अनुभव करें। उसके व्यक्तित्व में आकर्षण होना चाहिए। वेद में सोम का दूसरा अर्थ सोमलता भी होता है। सोमलता का रस अपूर्व वीरता, बुद्धि एवं मनीषा को प्रदान करता है, वैसे ही शिक्षक को छात्र में इस गुण को भरनेवाला होना चाहिए।

शिक्षक की अपनी विशेषताएँ है उसका **'ओषधि'** तथा **'पयः'** होना। ओषधि रोगों को दूर करती है, वैसे ही शिक्षक छात्र के शारीरिक एवं मानसिक रोगों को हरण करने वाला हो। शिक्षक का कार्य केवल पुस्तक का पाठ पढ़ा देना नहीं है, छात्र के शारीरिक एवं नैतिक निर्माण का उत्तरदायित्व भी उस पर है। कई बार छात्र भयंकर दुर्व्यसनों का शिकार हो जाता है; ओषधि बनकर छात्र का उनसे उद्धार करने का गुरुतर कार्य शिक्षक का है। शिक्षक

'पयः' या दूध भी है। दूध पुष्टिकारक होता है, वैसे ही शिक्षक को छात्र की सर्वतोमुखी पुष्टि करने वाला होना चाहिए। छात्र यह अनुभव करे कि शिक्षक के समीप रहकर प्रतिदिन मैं नवीन पुष्टि प्राप्त कर रहा हूँ; मेरा ज्ञान, मनोबल, चरित्रबल आदि उत्तरोत्तर अधिकाधिक पुष्ट हो रहा है।

मन्त्रोक्त इन गुणों के अतिरिक्त शिक्षक के कतिपय अन्य गुण भी विविध वैदिक प्रसंगों से सूचित होते हैं। वेद में शिक्षक को **'वाचस्पति'** नाम से स्मरण किया गया है। इससे प्रकट होता है कि जिस वाङ्मय या विषय का वह अध्यापन करता है, उस पर उसका प्रभुत्व होना चाहिए। साथ ही वाक्कला में भी उसे निष्णात होना चाहिए, जिससे उस विषय को समझा सके। कुछ शिक्षकों में ज्ञान-गाम्भीर्य तो होता है, पर वाक्कला नहीं होती; कुछ में वाक्कला होती है, पर ज्ञानगाम्भीर्य नहीं होता। उत्तम शिक्षक वह है जिसमें ये दोनों विशेषताएँ हों, यह वाचस्पति शब्दों से सूचित होता है। शिक्षक के लिए प्रयुक्त होने वाले वैदिक **'ब्रह्मणस्पति'** तथा **'बृहस्पति'** शब्द भी यही बताते हैं। वेद में शिक्षक को **'वसोष्पति'** भी कहा है। वसु का अर्थ विद्याधन लें तो यह शब्द शिक्षक की अगाध विद्वत्ता की ओर इङ्गित करता है। पर केवल विद्याधन ही नहीं, सामान्य धन अर्थ भी लेना यहाँ उचित है। शिक्षक की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी होनी चाहिए, उसे अच्छी दक्षिणा मिलनी चाहिए, जिससे वह निश्चिन्त होकर सर्वात्मना अपने छात्रों के निर्माण में समय दे सके।

शिक्षक-शिष्य का सम्बन्ध

शिष्य जब शिक्षणालय या गुरुकुल में प्रविष्ट होने के लिए शिक्षक के पास पहुँचता है, तब शिक्षक उसका उपनयन-संस्कार करता है। वेद का कथन है कि **"शिक्षक उपनयन-संस्कार करके शिष्य को अपने गर्भ में धारण कर लेता है। उसे तीन रात्रि अपने उदर में रखता है। फिर जब वह शिष्य जन्म लेता है तब उसके दर्शन के लिए देव एकत्र होते हैं।"**[१] यह वर्णन शिक्षक-शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध पर अच्छा प्रकाश डालता है। शिष्य

---

१. अथर्व०११.५.३. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥

का शिक्षक के अधीन रहना वैसा ही है जैसे शिशु का माता के गर्भ में रहना। गर्भस्थ शिशु का जैसा निकट सम्बन्ध माता के साथ होता है, वैसा ही शिष्य का शिक्षक के साथ होना चाहिए। यज्ञोपवीत देने को उपनयन-संस्कार इसीलिए कहा जाता है, क्योंकि इसके द्वारा शिक्षक शिष्य को अपने समीप लाता है। शिष्य तीन रात्रि शिक्षक के गर्भ में वास करता है। यहाँ तीन दिन न कहकर तीन रात्रि कहना साभिप्राय है। रात्रि अज्ञान का उपलक्षण है। शिष्य त्रिविध अज्ञान से घिरा होता है। प्राथमिक शिक्षा प्राप्त कर चुकने पर प्रथम रात्रि पार हो जाती है, माध्यमिक शिक्षा पूर्ण होने पर द्वितीय रात्रि एवं उच्च शिक्षा समाप्त होने पर तृतीय रात्रि। यह आजकल की दृष्टि से स्थूल वर्गीकरण है, अन्यथा ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड-विषयक अज्ञान को एक-एक रात्रि माना जाता है। तीन रात्रि गर्भ में रहकर शिष्य जन्म लेता है; स्नातक बनता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को द्विज इसीलिए कहते हैं कि ये एक बार माता के गर्भ से तथा दूसरी बार आचार्य के गर्भ से जन्म लेते हैं। जब वह स्नातक बनता है तब देवजन उसके दर्शनार्थ एकत्र होते हैं। इस आलङ्कारिक वर्णन से वेद निर्दिष्ट करता है कि शिक्षक का शिष्य के प्रति माता का-सा सम्बन्ध हो तथा माता गर्भस्थ शिशु के लिए जो बलिदान करती है, शिक्षक भी शिष्य के लिए वह बलिदान करने के लिए उद्यत रहे।

अथर्ववेद के प्रथम सूक्त में शिष्यों की ओर से शिक्षक को कहलाया गया है कि "**आप देव मन के साथ पुनः-पुनः हमारे बीच में आइए।**"[१] इससे सूचित होता है कि वैदिक शिक्षक-शिष्य में ऐसा मधुर प्रेमपूर्ण सम्बन्ध है कि शिष्य शिक्षक को पुनः-पुनः अपने मध्य में आने के लिए निमन्त्रित करते हैं। दूसरी बात यह है कि शिक्षक को शिष्यों से व्यवहार करते समय सदा '**देव मन**' से युक्त होना चाहिए। कभी शिक्षक दुर्बलतावश अपने मन को शिष्यों के प्रति '**अदेव**' न होने दे। इसी सूक्त में आगे कहा है-"**हम शिक्षक को निमन्त्रित करते हैं, शिक्षक हमें निमन्त्रित करें।**"[२] पारस्परिक स्नेह, विनय, आदर, शिष्टाचार एवं माधुर्य का कैसा सुन्दर निदर्शन है!

१. अथर्व० १.१.२. पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।

२. अथर्व० १.१.२. उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम्।

शिक्षण-शैली

शिक्षक की शिक्षण-शैली कैसी हो, इस पर भी प्रस्तुत सूक्त सुन्दर प्रकाश डालता है। शिक्षण-पद्धति नीरस न होकर सरस होनी चाहिए, छात्र को उकता देने वाली न होकर आकर्षक होनी चाहिए। **"हे गुरुवर! आप ऐसे खेल-खेल में पढ़ाइए कि जो कुछ मैं सुनूँ वह मुझमें ही रहे।"**[१] **"जो कुछ हम गुरुमुख से सुनें उससे संगत रहें, वह हमें विस्मृत न हो।"**[२] शिक्षक को चाहिए कि जैसे प्रत्यञ्चा से दोनों धनुष्कोटियों को तान दिया जाता है, वैसे ही अपनी वाणी से शिष्य की बुद्धि में पाठ्य विषय को ऐसा तान दे, स्पष्ट कर दे कि वह कभी विस्मृत न हो।[३] शिक्षक इन गम्भीर विशाल द्यावापृथिवी को, इनके अन्दर विद्यमान वस्तुओं को, छात्र के सम्मुख ऐसा गढ़-छीलकर रख दे कि वे उसके सामने हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाएँ, तभी तो छात्र उन्हें हृदयङ्गम कर सकेगा।[४] **"जो कुछ हम सुनें वह विस्मृत न हो,"** यह कहकर वेद इस ओर ध्यान आकृष्ट करता प्रतीत होता है कि अध्यापक इस शैली से पढ़ाए कि छात्रों को कक्षा में ही पाठ स्मरण हो जाए। छोटे बालकों के लिए यह शैली विशेष रूप से उपादेय है।

ऋग्वेद का ज्ञानसूक्त शिक्षण के एक अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व की ओर निर्देश करता है। "एक-सी आँखों वाले तथा एक-से कानों वाले भी सहाध्यायी छात्र मनोवेग में असमान होते हैं। कुछ छात्र मुखपर्यन्त पानीवाले सरोवर के तुल्य होते हैं, तो कुछ छात्र कक्षपर्यन्त पानीवाले सरोवर के तुल्य और कुछ अन्य छात्र यथेच्छ स्नान करने योग्य लबालब भरे सरोवरों के तुल्य होते हैं।"[५] इसमें इस तथ्य की ओर प्रकाश डाला गया है कि साथ

---

१. अथर्व० १.१.२. वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम्।

२. अथर्व० १.१.२. सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि।

३. अथर्व० १.१.३. इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया। वाचस्पतिर्नियच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम्॥

४. अथर्व० ११.५.८. आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च।

५. ऋ० १०.७१.७. अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः। आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृशे॥

पढ़नेवाले छात्रों की ग्रहणशक्ति एक-समान नहीं होती, अत: शिक्षक को पढ़ाते समय सभी छात्रों का ध्यान रखना चाहिए। इस प्रकार पढ़ाना चाहिए कि सभी स्तर के छात्र विषय को ग्रहण कर सकें। यदि वह तीव्र बुद्धिवाले छात्रों के स्तर से पढ़ाएगा तो शेष छात्र वञ्चित रह जायेंगे। एक और बात जो इससे ध्वनित होती है वह यह है कि क्योंकि छात्रों का मनोजव या मनोरुचि भिन्न-भिन्न होती है, अत: पाठ्य विषयों के चुनाव में उनकी रुचि का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। प्रत्येक छात्र प्रत्येक विषय में निष्णात नहीं बन सकता, अत: सभी छात्रों को एक-से विषय पढ़ाना उन पर अत्याचार है। पाठ्यक्रम में वैकल्पिक विषयों के निर्वाचन की पर्याप्त सुविधा रहनी चाहिए।

सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ क्रियात्मक ज्ञान की शिक्षा भी दी जानी चाहिए, क्योंकि "जिसने पुष्प-फल-रहित या क्रियात्मक-ज्ञान-रहित विद्या को सुना है, वह मानो दूध न देने वाली गाय को साथ लिये फिरता है।"[१] "शिक्षण के विषय के अनुरूप विचारात्मक, वर्णनात्मक, संवादात्मक, कथात्मक आदि शैलियों का प्रयोग किया जाना चाहिए।"[२] ऋग्वेद के मण्डूक सूक्त में उपमा द्वारा उस शैली की ओर सङ्केत किया गया है, जिसमें पहले शिक्षक कोई वाक्य बोलता है और उसके पीछे शिष्य उसे दोहराते हैं-"मेंढक के पीछे दूसरा मेंढक ऐसे ही बोल रहा है, जैसे शिक्षक के पीछे शिष्य।"[३] अधिकतर बालकों के शिक्षण में इस शैली के प्रयोग की आवश्यकता होती है।

---

१. ऋ० १०.७१.५. अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्।

२. वेदों में इन सब शैलियों का प्रयोग मिलता है। यथा-नासदीय सूक्त में विचारात्मक शैली, प्राकृतिक वर्णनों में वर्णनात्मक शैली, उर्वशी-पुरूरवा-संवाद आदि में संवादात्मक शैली, इन्द्र-वृत्र-युद्ध आदि में कथानक शैली।

३. ऋ० ७.१०३.५. शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।

शिक्षा का उद्देश्य

विद्यार्थी समित्पाणी होकर आचार्य के समीप विद्याध्ययन के लिए पहुँचता है। वह आचार्यकुल की अग्नि में समिधा डालता हुआ जिस मन्त्र का उच्चारण करता है, उसका भाव यह है-"**इस बृहत् जातवेदस् अग्नि के लिए मैं समिधा लाया हूँ। हे अग्ने! जैसे तू समिधा से समिद्ध होता है, वैसे ही मैं आयु, मेधा, तेज, प्रजा, पशु, ब्रह्मवर्चस् से समिद्ध होऊँ। मेरा आचार्य जागरूक पुत्रों (शिष्यों) वाला हो। मैं मेधावी, अग्निराकरिष्णु (सज्जनों और सद्वृत्तियोंको निराकृत न करने वाला), यशस्वी, तेजस्वी, ब्रह्मवर्चस्वी और अन्नादि होऊँ।**"[१] इससे ज्ञात होता है कि शिक्षा का वैदिक उद्देश्य यह है कि छात्र गुरु के सान्निध्य में रहकर शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार का विकास करें। शरीर से वे अन्नाद, स्वस्थ, बलवान्, तेजस्वी और दीर्घायु बनें तथा मन, बुद्धि और आत्मा से दृढ़-संकल्प, मेधावी, ज्ञानवान्, यशस्वी एवं ब्रह्मवर्चस्वी बनें।

माता-पिता बालक को गुरुओं के समीप लाकर कहते हैं-"हे गुरुजनो! आप कमलफूलों की माला पहने हुए इस कुमार को अपने गर्भ में धारण कीजिए, जिससे यह आदमी बन जाए।"[२] एक सच्चा पुरुष, सच्चा मनुष्य या सच्चा नागरिक बनाना भी शिक्षा का उद्देश्य है। यदि आज के शिष्य, शिक्षक और शिक्षणालय वेद के उद्देश्यों को साकार करने में सर्वात्मना जुट जाएँ तो शिक्षणालयों में आज जो नई-नई जटिल समस्याएँ उत्पन्न होती रहती हैं, उन सबका समाधान हो सकता है।

---

१. पार०गृह्य० २.४.३. ओम् अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे। यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यस एवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे, जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहम-सान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासः स्वाहा।

२. यजु० २.३३. आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्॥

पाठ्य-विषय

छान्दोग्य उपनिषद् के सनत्कुमार-नारद-संवाद से विदित होता है कि नारद जब सनत्कुमार के समीप जिज्ञासु बनकर आए, तब उन्होंने अनेक विद्याएँ पहले ही पढ़ी हुई थीं। वे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहासवेद, पुराणवेद, व्याकरण, पितृविद्या, राशिविद्या, दैवविद्या, निधिविद्या, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या और गन्धर्वविद्या में पारङ्गत थे।[१] आत्मवित् होने के लिए ही वे गुरु के चरणसेवी हुए थे। आजकल ऐसे मेधावी छात्र खोजने पर भी नहीं मिलेंगे जो इतनी विद्याओं को एक-साथ पढ़ सकें। नारद के युग में विविध भाषाओं की समस्या नहीं थी। आज तो प्रादेशिक, संस्कृत, हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं एवं अंग्रेजी, रशियन, जर्मन आदि विदेशी भाषाओं का ऐसा प्रपञ्च खड़ा हो गया है कि दो पाठ्य-विषय तो भाषाओं के ही हो जाते हैं। विविध विद्याओं में से विद्यार्थी का कठिनाई से दो में ही चञ्चुप्रवेश हो पाता है। वैदिक छात्र तो उपर्युक्त अनेक विद्याओं का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन करने के पश्चात् भी ज्ञान-पिपासु बने रहते थे। अध्यात्मविद्या एवं योग का क्रियात्मक ज्ञान ग्रहण कर लेने पर ही उनकी शिक्षा की परिसमाप्ति होती थी, यद्यपि स्वाध्याय उसके पश्चात् भी चलता रहता था। मुण्डक उपनिषद् में अङ्गिरा ऋषि अपने शिष्य शौनक के सम्मुख दो प्रकार के पाठ्यक्रमों का निर्देश करते हैं- '**अपराविद्या**' और '**पराविद्या**'। ऋक्, यजु, साम, अथर्व, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष आदि विविध ज्ञान-विज्ञान सब अपरा विद्या में आ जाते हैं और पराविद्या वह है जिससे अक्षर-ब्रह्म का प्रत्यक्ष किया जाता है।[२]

---

१. छा०उप० ७.१.

२. मु०उप० १.४.५. द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः, अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। शिक्षा, कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।

अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य सूक्त में कहा है **कि ब्रह्मचारी की ज्ञानाग्नि में पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ समिधा बनते हैं।**[१] इससे सूचित होता है कि ब्रह्मचर्याश्रम में वह इन तीनों के विषय का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ का त्रिक ज्ञान-कर्म-उपासना, प्रकृति-जीव-ईश्वर, जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति, तमस्-रजस्-सत्त्व, प्रात:सवन-माध्यन्दिनसवन-सायंसवन, श्रवण-मनन-निदिध्यासन, शरीर-मन-आत्मा, सत्य-यश-श्री आदि के त्रिकों का भी प्रतीक है। अथर्ववेद में इक्कीस (त्रि: सप्त) विद्याओं के पढ़ने का भी उल्लेख मिलता है।[२] साररूप में कहें तो वैदिक पाठ्यक्रम में भौतिक विद्या तथा अध्यात्म विद्या का समन्वय है। आज जो शिक्षणालयों में योगाभ्यास की शिक्षा अनिवार्य करने का प्रश्न शिक्षाविज्ञों के सम्मुख है, वह वैदिक शिक्षा-पद्धति के अनुरूप ही है।

शिक्षा में तप का स्थान

प्रधान शिक्षक या आचार्य आश्रम में प्रविष्ट करते समय शिष्य की कटि में मेखला बाँधता है। वह कहता है **'मेखला बन्धन करता हुआ मैं इसे ब्रह्मचर्य, तप और श्रम से बाँधता हूँ।'**[३] शिक्षाकाल में ब्रह्मचर्य, तप और श्रम का बहुत महत्त्व है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है ज्ञान, सत्य एवं सदाचरण की साधना का व्रतग्रहण तथा उसके पालन की अनवरत निष्ठा व तत्परता। ब्रह्मचर्य का प्रचलित स्थूल अर्थ भी इसी में समाविष्ट है। तप का अर्थ है द्वन्द्वसहन, सर्दी-गर्मी, सुख-दु:ख आदि को समभाव से प्रसन्नतापूर्वक सहन करना एवं सरल-सादा जीवन व्यतीत करना। श्रम से अभिप्राय है शारीरिक व्यायाम तथा हाथ के काम घरेलू, उद्योग-धन्धों की शिक्षा। वैदिक मेखला-बन्धन इन सबका प्रतीक है। शिक्षाकाल में इनके अनुष्ठान से मति, मेधा, इन्द्रिय-शक्ति आदि का भी विकास होता है।[४]

---

१. अथर्व० ११.५.४. इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।

२. अथर्व० १.१.१.

३. अथर्व० ६.१३३.३. तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि।

४. अथर्व० ६.१३३.४. स नो मेखले मतिमाधेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियं च।

ब्रह्मचर्यसूक्त में लिखा है कि ब्रह्मचारी जब स्नातक बनकर बाहर आता है, तब जनता उसे कहती है कि तुम हमें प्राण, अपान, व्यान, वाक्, मन, हृदय, ब्रह्म, मेधा, चक्षु, श्रोत्र, यश, अन्न, रेतस्, रुधिर और उदरशक्ति प्रदान करो। इन सब वस्तुओं तथा शक्तियों को उसने ब्रह्मचर्याश्रम में तपस्या एवं साधना के साथ सञ्चित किया होता है।[१] अथर्ववेद में अन्यत्र छात्रों की ओर से कहा गया है **कि हम ब्रह्मचर्याश्रम में खूब तप करते हैं और वेदों का श्रवण-मनन करते हुए आयुष्मान् तथा मेधावी बनते हैं।**[२] ब्रह्मचर्य-काल में वह जिन भौतिक एवं अध्यात्म-विद्याओं का अध्ययन करता है, उन्हें तप द्वारा ही अपने अन्दर रक्षित करता है।[३] इस प्रकार वैदिक दृष्टि में तप और व्रतपालन की बड़ी महिमा है। आज भी शिक्षाशास्त्री इसका महत्त्व समझते हैं।

इसके अतिरिक्त शिक्षा-विज्ञान के अन्य भी अनेक तत्त्व वेदों में बिखरे हुए हैं, जिनका अन्वेषण एवं सङ्कलन उपयोगी हो सकता है।

('वैदिक मधुवृष्टि' से साभार)

डॉ. रामनाथ वेदालङ्कार
पूर्व आचार्य एवं उपकुलपति
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार-२४९४०४

---

१ अथर्व० ११.५.२४-२६. प्राणापानौ जनयन्नाद व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम्। चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम्॥ तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे॥

२. अथर्व० ७.६३.२. अग्ने तपस्तप्यामहे उपतप्यामहे तपः। श्रुतानि शृण्वन्तो वयमायुष्मन्तः सुमेधसः॥

३. अथर्व० ७.६३.८. तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी।

भारतीय परम्परा में उपाध्याय, गुरु और आचार्य का स्वरूप

प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री
आचार्य एवं उपकुलपति

उपाध्याय शब्द श्रूयमाण होता हुआ किसी भव्य एवं दिव्य व्यक्तित्व की ओर इङ्गित करता हुआ, मानव परम्परा में परिगणनीय शब्द-शृङ्खला में अपना विशिष्ट स्थान रखता हुआ, विद्वत् समुदाय के मानस-सरोवर में विविध तरङ्गरिङ्गण के साथ क्रीडा में तत्पर, हंस सदृश शोभमान होता रहा है। यद्यपि उपाध्याय शब्द किसी वृत्तिविशेष की ओर ध्यान आकृष्ट करता है, किन्तु वह वृत्ति ब्राह्मण वर्ग की व्यापक एवं शाश्वत ज्ञानवृत्ति का एक उज्ज्वल अंश है, जो कि ब्राह्मणों के एक विशिष्ट वर्ग के लिए रूढ़ होकर संसार में कीर्तिमान् हो गया है। प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्राह्मण के साथ उपाध्याय शब्द का विनियोजन कब और कैसे सम्भव हुआ? क्योंकि दो प्रकार के शब्दव्यूह दृष्टि में आते हैं। प्रथम शब्दव्यूह वैदिक शब्दों का है तथा द्वितीय शब्दव्यूह लौकिक शब्दों का है। वैदिक शब्द वेदों में हैं, जिनका कर्त्ता स्वयं परमात्मा है, लौकिक शब्द लोकनिर्मित हैं, जिनके कर्त्ता ऋषि, मुनि, देव, विद्वान् आदि हैं। यद्यपि यह सत्य है कि लौकिक शब्दों का मूल भी बीजरूप में कहीं न कहीं वेदों में अवश्य द्रष्टव्य है, क्योंकि समग्र शब्दसृष्टि का मूल वेद को ही स्वीकार किया गया है। मनु महाराज ने मनुस्मृति में स्पष्ट रूप से वेदों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए उद्घोष किया है कि-

सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥[१]

शब्दार्थ के सत्यस्वरूप का दर्शन करने वाले, भारती के समुपासकवृन्द से वन्दनीय ऋषिवर वेदव्यास जी महाराज ने भी जगत् प्रपञ्च की समस्त प्रवृत्तियों का मूल वेदों को ही स्वीकार किया है। जैसे-

---

१. मनु० १.२१.

अनादिनिधनानित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥[१]

इस प्रकार सभी मनीषियों ने वेद में ही समस्त सद्वृत्तियों का दर्शन करते हुए सांसारिक जन-समूह के कल्याणार्थ विविध प्रकार से उपदेश प्रक्रिया को संजीवन दिया। उपाध्याय की मौलिक प्रवृत्तियों का वर्णन भी हमें वेद में प्राप्त होता है। यद्यपि वेदमन्त्रों में कहीं भी उपाध्याय शब्द का प्रयोग तो नहीं हुआ है, किन्तु जो वर्णन उपलब्ध है, उसके अनुसार प्रयुक्त विशेषण उपाध्याय की वृत्ति की ओर इङ्गित करते हैं। वेदों के प्रख्यात विद्वान् श्री दामोदर जी सातवलेकर ने दैवत-संहिता में एक मन्त्र का उपाध्याय देवता के सम्बन्ध में उल्लेख किया है। उस मन्त्र का देवता '**विश्वामित्रोपाध्याय**' है। इससे प्रतीत होता है कि मन्त्र उपाध्याय का समस्त प्रवृत्तियों का परिचायक है। मन्त्र इस प्रकार है-

शतधारमुत्समक्षीयमाणं विपश्चितं पितरं वक्तानाम्।
मेलिं मदन्तं पित्रोरुपस्थे तं रोदसी पिपृतं सत्यवाचम्॥[२]

प्रस्तुत मन्त्र में प्रयुक्त विशेषण परम्परा उपाध्याय की वाग्वृत्ति की सतत प्रगतिमयता की स्पष्टतया द्योतन कर रही है।

उपाध्याय का शतधार रूप-मन्त्र में उपाध्याय के लिए 'शतधार' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'शतधार' उपाध्याय की वाग्मिता की ओर सङ्केत कर रहा है, क्योंकि यास्काचार्य ने 'धारा' शब्द का प्रयोग निघण्टु के अन्दर वाग्रूप में प्रस्तुत किया है। (**धारा इति वाङ्नामसु पठितम्**) इस प्रकार '**शतधार**' का अर्थ ''**शतधा धारा सुशिक्षिता वाग्यस्यासौ शतधारः**'' किया जा सकता है। वस्तुतः उपाध्याय किसी एक तथ्य का प्रकटन अनेकधा करता हुआ शतधार ही होता है। उपाध्याय के समक्ष सहस्रों की सङ्ख्या में बैठा हुआ छात्र-समुदाय जब उसकी वाणी का श्रवण करता है तो उस समय एक काल में अविच्छिन्न रूप में

१. महा०शान्तिपर्व, २३२.२४.

२. ऋ० ३.२६.९.

एकरूपा रश्मि का विकिरण वह अनेकधा ही करता है। जिस प्रकार व्योमस्थ मेघ सहस्र धाराओं के साथ पृथिवी पर वर्षण करता है, वही स्वरूप उपाध्याय का भी है। पुनश्च यह ज्ञातव्य है कि उपाध्याय के समक्ष जिज्ञासु शिष्य-मण्डल बौद्धिक दृष्टि से समान क्षमता का नहीं है, अतः कुशाग्र बुद्धि जिस निदर्शन से वस्तुतत्त्व का अवगम करता है, मन्द बुद्धि के लिए भिन्न निदर्शन के माध्यम से ही पदार्थ का बोध कराना उपाध्याय का परम कर्त्तव्य है। यह तभी सम्भव है जब कि उपाध्याय का बौद्धिक अभ्युदय शतधार की स्थिति को प्राप्त कर चुका हो। साङ्गोपाङ्ग शास्त्रों का ज्ञाता, शास्त्रानुशीलन में तत्पर तथा सहज प्रतिभा का धनी उपाध्याय ही शतधार की संज्ञा को प्राप्त कर सकता है।

अक्षीयमाण उत्स के रूप में उपाध्याय

उपाध्याय को अक्षीयमाण उत्स अर्थात् कभी भी क्षीण न होने वाले कूप के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कूप की विशेषता यही होती है कि वह इधर-उधर से आकर सञ्चित जल का दाता नहीं होता है, अपितु वह स्वतः स्रवणशील स्रोतों से निःसृत जल को प्रतिक्षण नव-नव रूप में स्वादु पेय बनाता हुआ जन-जन की जलाभिलाषा को पूर्ण करता है। उसी प्रकार उपाध्याय भी वह ज्ञानकूप है कि जिसके समीप जाकर कोटिशः पुरुष प्रायशः ज्ञानपिपासु होकर अपनी तृषा को शान्त करते हैं। कूप की सार्थकता इसीमें है कि निरन्तर उसमें से जल निकलता रहे। उपाध्याय की सार्थकता भी इसीमें है कि उसका ज्ञान-जल सतत निःसृत होता रहे, क्योंकि ज्ञानकूप की अक्षयता इसीमें निहित है। उपाध्याय का चिन्तन सहज होता है तथा उसमें सातत्य रहता है। यह चिन्तन सातत्य ही उसके अक्षीयमाण रूप का हेतु है। सातत्य के अभाव में पूर्वार्जित ज्ञानजल के कारण उपाध्याय का कूपरूप तो रह सकता है, परन्तु उसकी अक्षीयमाणता क्षण-क्षण में क्षीण होती रहती है। सम्भवतः इसीलिए कहा गया है-

अपूर्वः कोऽपि कोशोऽयं दृश्यते तव भारति।
व्ययतो वृद्धिमायाति क्षयमायाति सञ्चयात्॥

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा 'उत्स' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया गया है- **''उन्दन्ति येन तं कूपम्, उत्समिति कूप नाम[१]। कूपमिव जलेन क्लिन्नम्, कूप इव तृप्तिकरः, उन्दन्ति यस्मात् स कूप इव (पुरुषः)''** अर्थात् कूप की क्लिन्नता यहाँ स्नेह का द्योतन करती है। स्नेह तृप्तिकर स्वयमेव होता है, अतः उपाध्याय ज्ञानकोष होते हुए स्नेह की जीवित मूर्ति के रूप में भी स्वयं को प्रस्तुत करे। कूप शब्द से उपाध्याय की स्वस्थानाधिष्ठातृता निश्चय ही अभिव्यञ्जित हो रही है। जिस प्रकार कूप एक स्थानस्थ रहकर आने वालों की जलदान द्वारा तृप्ति करता है, उसी प्रकार उपाध्याय भी अपनी पीठ पर अधिष्ठित होता हुआ अक्षय ज्ञाननिधि का निरन्तर वितरण करता रहता है। यदि उपाध्याय की व्युत्पत्ति करें तो इस प्रकार होगी- **''उपेत्यधीयतेऽस्मादित्युपाध्यायः''** अर्थात् जिसके समीप जाकर अध्ययन किया जाता है, वह उपाध्याय संज्ञा को प्राप्त करता है। समग्र उपनिषद् साहित्य इस दृष्टि से औपाध्यायिक प्रवृत्ति का द्योतक है। यद्यपि अधुनातन जगत् में चिन्तन परम्परा भिन्न है, अद्यतनीन विचार से तो **''शिष्यमुपेत्य योऽध्यापयति स उपाध्यायः''** यह अर्थ किया जाता है, परन्तु यह अर्थ प्राक्काल में अभीष्ट नहीं था, क्योंकि सभी प्राचीन ग्रन्थों के शिक्षा प्रसङ्गों में शिक्षकरूप पूर्वारणि के समीप उत्तरारणिरूप शिष्य को ही आना होता है। पूर्वारणि जहाँ उसका स्थान है, वहीं प्रतिष्ठित रहती है। गुरुकुलों अथवा शिक्षण संस्थानों में आज भी विद्यार्थियों का प्रविष्ट होना इसका प्रमाण है। उपाध्याय की इस गौरवमयी स्थिति को ध्यान में रखते हुए आचार्य पाणिनि ने **''आख्यातोपयोगे''**[२] सूत्र का उदाहरण नियमपूर्वक विद्यास्वीकरण में **''उपाध्यायादधीते''** दिया है, जिससे शिष्य का शिक्षक के समीप गमन सिद्ध हो रहा है।

उपाध्याय का विपश्चित् रूप

उपाध्याय को वैदुष्य से परिपूर्ण होना चाहिये। क्योंकि उसका प्रमुख कार्य अध्यापन है, अतः विद्यार्थी की समस्त शङ्काओं का निवारण करना उपाध्याय का प्रमुख कर्तव्य है। यह

---

१. निरु० ३.२३.

२. अष्टा० १.४.२९.

तभी सम्भव हो सकता है जब कि उपाध्याय का विशद अध्ययन एवं मनन होगा। कोई भी विद्या चार प्रकार से फलवती मानी गयी है, अर्थात् अधीति, बोध, आचरण एवं प्रचारण के द्वारा विद्या का पूर्ण विकास होता है। यह विकास उपाध्यायाश्रित ही स्वीकरणीय है तथा उक्त परम्परा के निर्वाहार्थ उपाध्याय का विद्वानों की श्रेणी को निजाभिख्या से अलङ्कृत करना परम कर्तव्य है।

उपाध्याय वाणी का पिता है, उपाध्याय को **'पितरं वक्वानाम्'** कहकर वाणी के पिता के रूप में स्वीकार किया गया है। स्वामी दयानन्द जी ने **वक्वा** के विद्वज्जन, वक्ता, भाषण वा उपदेश परम्परा आदि अनेक अर्थ किये हैं। इसी प्रकार पिता के भी पालक, जनक, विद्वान्, सूर्य, पालयिता वा अध्यापक आदि अनेक अर्थ किए हैं।[१] इस प्रकार यह तो निश्चित ही है कि समस्त वाक् प्रसर उपाध्याय का निर्देशन प्राप्त करता हुआ ही गति में आता है। इसीलिए उपाध्याय को वाणी का पिता कहा गया है। यहाँ यह चिन्तना अवश्य करणीय है कि जिस प्रकार एक पिता अपनी पुत्री को गुणकर्मानुसार ही उसके योग्य पति को देता है, उसी प्रकार उपाध्याय का भी यह कर्त्तव्य है कि वह पात्र के गुण-कर्म एवं स्वभाव देखकर ही विद्या के विभिन्न रूपों का सूक्ष्म निरीक्षण करके प्रदान करे। इसके लिए उपाध्याय को मनोवैज्ञानिक होना चाहिये, क्योंकि छात्र को मन:स्थिति का यथारूप जब तक स्पष्ट नहीं होगा, तब तक प्रदत्त विद्या फलवती नहीं होगी। जब-जब उपाध्याय ने किसी भय अथवा प्रलोभनवश वाणी का असत्यपात्र में आधान किया है, तभी वाक् सरिता की पावनता कुछ मलिन हुई है। अत एव निरुक्तकार ने इन पङ्क्तियों का उल्लेख कर दिया है-

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥
य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदु:खं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह॥

१. वैदिक कोष।

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव ते न गुरुर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्॥
यमेव विद्या शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥[१]

वाणी का पिता कहलाने का अधिकारी उपाध्याय तभी है, जबकि वह वाणी की आवाज को सुनता है। जिस प्रकार लोक में नपुंसक को दी गई कन्या पुत्रवती नहीं होती, उसी प्रकार अपात्र प्रदत्त विद्या फलवती नहीं होती है। यहाँ एक शङ्का हो सकती है कि विद्या का क्षेत्र सभी के लिए है फिर पात्र-अपात्र का प्रश्न कैसा? वास्तविकता यह है कि अपात्र से अभिप्राय यह नहीं है कि वह सर्वथा अपात्र है, अपितु उसकी बौद्धिक एवं चारित्रिक क्षमता के आधार पर यहाँ पात्र-अपात्र का भाद है। जिस समय छात्र की जितनी तथा रुचि के अनुसार जैसी बौद्धिक क्षमता है वही उसकी पात्रता है और उसी के अनुसार उसे विद्यादान होना चाहिये। यह कार्य कुशल उपाध्याय का है कि वह देखे कौन छात्र किस-किस योग्यता का है. उसको उस समय, उसी स्तर की विद्या का दान अपेक्षित है। अत एव ऐसे कुशल उपाध्याय को **'पितरं वक्नानाम्'** कहा गया है।

उपाध्याय का सत्यवाक् रूप

उपाध्याय का सत्यवाक् होना प्रार्थित है, क्योंकि सत्यता के अभाव में उपाध्याय प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं कर सकता। यह सत्यवाक् होना उसके चारित्रिक पक्ष की ओर सङ्केत करता है। उपाध्याय का जहाँ विद्वान्, चिन्तक, गवेषक, कुशलवक्ता होना अपेक्षित है, वहीं उसका 'सत्यवाक्' होना भी अपेक्षित है। यहाँ सत्यवाक् का एक अभिप्राय यह भी है कि उपाध्याय सत्योपदेष्टा, आप्त पुरुषों के वाक्यों को ही अपनी वाणी का विषय बनाकर अध्ययन-अध्यापन में प्रवृत्त रहे।

१. निरु० २.४.१-४.

इस प्रकार वेदमन्त्र में हमें उपाध्याय का स्वरूप दृष्टिगत होता है। स्मृति-ग्रन्थों में भी उपाध्याय को वर्ण्य विषय बनाया गया है। मनुस्मृति में उपाध्याय के स्वरूप को उस अध्यापक के साथ समन्वित किया है, जो जीविका हेतु अध्यापनादि में प्रवृत्त होता है, जैसे-

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते॥[१]

मनु जी ने वृत्ति हेतु अध्यापन में रत ब्राह्मण को उपाध्याय की संज्ञा देते हुए उसको आचार्य की अपेक्षा कम प्रतिष्ठा प्रदान की। '**उपाध्यायान्दश आचार्यः**'[२] कहकर मनु जी स्पष्टतया दश उपाध्यायों की अपेक्षा एक आचार्य को गुरुता प्रदान करते हैं। क्योंकि वृत्ति हेतु उपाध्याय का जीवन एक वणिक् व्यक्ति के समान ही स्वीकार किया गया है। जैसे कि- '**यस्यागमः केवलं जीविकार्थं तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति**' अर्थात् केवलमात्र धनार्जन के लिए शास्त्राभ्यास करने वाला ब्राह्मण एक व्यावसायिक का दृष्टिकोण अपना कर ही चलता है।

याज्ञवल्क्य जी ने अपनी स्मृति में उपाध्याय के स्वरूप का वर्णन करते हुए मनुस्मृति का पूर्णरूप से अनुकरण किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि याज्ञवल्क्य के समक्ष समाज में व्यावहारिक रूप में मनु द्वारा निर्दिष्ट उपाध्याय का स्वरूप प्रचलित था, अत एव उन्होंने भी '**एकदेशमुपाध्यायः**'[३] कहकर सङ्क्षेप में उपाध्याय का स्वरूप वर्णित किया है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि याज्ञवल्क्य यह तो स्वीकार करते हैं कि वेद के एकदेश को पढ़ाने वाला उपाध्याय है, किन्तु वह वृत्त्यर्थ पढ़ाता है, इसलिए उपाध्याय है, इसका कोई निर्देश स्पष्टतया नहीं किया है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में भी उपाध्याय को अध्यापक के रूप में स्वीकार करते हुए पूर्ण प्रतिष्ठा प्रदान की गयी है, वहीं आचार्य के समान ही उपाध्याय का सम्मान किया गया है,

---

१. मनु० २.१४१.

२. मनु० २.१४५.

३. याज्ञवल्क्यस्मृति १.३५.

जैसे कि-''**तथा समादिष्टेऽध्यापयति**''१ अर्थात् ब्रह्मचारी को गुरु अथवा आचार्य के समान ही आचार्य के आदेश से अध्यापन करने वाले उपाध्याय (अध्यापक) के प्रति भी सत्कार करना चाहिये। यहाँ आचार्यवत् उपाध्याय का सम्मान करणीय है।

महाभाष्यकार ने भी अपने भाष्य में अध्यापक के लिए उपाध्याय शब्द का ही प्रयोग किया है। जैसे कि-'**एवमुक्त उपाध्यायेनोपाध्यायानीमपृच्छत्**'२ यहाँ उपाध्याय की पत्नी को **उपाध्यायानी** शब्द से कहा गया है और कहीं उसके लिए **उपाध्यायी** शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु अध्यापन कर्म में प्रवृत्त महिला के लिए तो **उपाध्याया** शब्द का प्रयोग होता है। उपर्युक्त कथन से इतना स्पष्ट है कि उपाध्याय का सीधा सम्बन्ध अध्यापन कर्म से है।

मानव समाज में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में यदा-यदा प्रगति हुई है, उस प्रगति का श्रेय उपाध्याय वर्ग को ही रहा है। सामाजिक-चेतना को उजागर करने का उत्तरदायित्व उपाध्याय पर ही है, किन्तु इसके साथ-साथ समाज के द्वारा उपाध्याय को पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त होनी चाहिये। हम देखते हैं कि विदेशों में आज भी उपाध्या‌या का जो सम्मान है, वह सम्मान यहाँ नहीं है। अत: यदि मानव समाज की संरचना में चारुता का आधान करना है तो ब्राह्मण वर्ग के प्रतिष्ठित सम्भाग उपाध्याय को उचित सम्मान देना ही होगा।

गुरु का स्वरूप

गुरु शब्द का श्रवण होते ही एक अद्भुत, विलक्षण, वैदुष्य से ओत-प्रोत, तप:पूत, निष्ठावान्, दिव्यगुणों से परिपूर्ण तथा क्षणे-क्षणे अभिनव रूप में दर्शनीय व्यक्तित्व चक्षुगोचर होने लगता है, जिसका ध्यान होते ही मानव-मन में सहज श्रद्धा का भाव प्रोद्भूत होकर उसको नम्र, शिष्ट, शालीन तथा अनुशासित होने की प्रेरणा करने लगता है। गुरु शब्द आकार में जितना अल्प है, उतना ही आर्थिक दृष्टि से महान् है। गुरु की गम्भीरता, गहनता तथा

१. आपस्तम्बधर्मसूत्र १.२.७.२८.

२. पत०महाभाष्य।

महनीयता का अनुभव सभी को होता है। गुरु की नि:सीम शक्ति का ध्यान करते हुए ऋषियों ने परमपिता परमात्मा को **गुरु** शब्द से कहा है। अत एव योगदर्शन में गुरु शब्द का प्रयोग महर्षि पतञ्जलि ने परमात्मा के लिए किया है-"**स हि पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**"[१] अर्थात् वह परमात्मा कालादि से अवच्छिन्न होने के कारण पूर्व-पूर्ववर्ती ऋषियों का गुरु है। क्योंकि सृष्टि के आदि में मानव-कल्याणार्थ चार ऋषियों को परमात्मा ने ही श्रुति शब्दवाच्य वेद का ज्ञान दिया। ऋषिमन में परमात्मा द्वारा गीर्ण वेदज्ञान ही सम्पूर्ण विद्याओं से परिपूर्ण है। मानवहित की दृष्टि से मानव-मस्तिष्क में उद्भिन्न प्रत्येक सत्यविद्या का मूलस्रोत परमात्मप्रदत्त वेदज्ञान ही है। अत: परमात्मा को ही सर्वप्रथम गुरु शब्द से व्यवहृत किया गया है। गुरु शब्द की निष्पन्नता '**गृ शब्दे**' से हुई है। कुछ विद्वानों ने '**गृ निगरणे**' धातु से भी गुरु शब्द निष्पन्न माना है तथा दोनों धातुओं से निष्पन्न गुरु शब्द अपनी व्युत्पत्त्यात्मक एकरूपता को ही समेटे हुए है। ईश्वर के लिए प्रयुक्त गुरु शब्द की व्युत्पत्ति का प्रकार यह हो सकता है-"**गिरति अज्ञानमन्तर्यामिरूपेणाविद्यां नाशयतीति गुरुः**" यद्वा-"**गीर्यते स्तूयते जीवनिकरैरिति गुरुः**" सर्वान्तर्यामि रूप में सभी जीवों का अज्ञाननिवारक तथा ज्ञानप्रकाशकारक परमात्मा ही गुरु है। संसार के सभी जीवों का एकमात्र स्तुत्य वह देवाधिदेव परमात्मा ही है। अत: प्रमुख साहित्य में जहाँ शिव, विष्णु, ब्रह्मा एवं बृहस्पति आदि के लिए गुरु शब्द का प्रयोग किया है, वहाँ वह एकमात्र सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, अजर, अमर, अभय, नित्य, सर्वान्तर्यामि परमात्मा का ही वाचक है।

परमात्मा के वेदज्ञान को विभिन्न प्रकार से प्रचारित एवं प्रसारित करने वाला ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण तप:पूत होकर मनस्विता, वर्चस्विता तथा तेजस्विता में अग्रगण्य होकर जब समाज में अपने दिव्यगुणों के कारण प्रतिष्ठित हो गया, तब उसको गुरु शब्द से सम्मानपूर्वक व्यवहृत किया जाने लगा। क्योंकि ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण का प्रमुख कार्य वेदादि का सदुपदेश कर, मानव-समाज को अविद्या से दूर कर, विद्या में प्रवृत्त करना ही माना जाता है। उक्त गुणों से युक्त

१. योगदर्शन १.२६.

विद्यावान् उपदेष्टा को गुरु कहते हुए निम्न व्युत्पत्ति की जा सकती है-''**गृणाति उपदिशति वेदशास्त्राणि यद्वा गीयते स्तूयते शिष्यवर्गैरिति गुरुः।**''

महाराज मनु ने गुरु के स्वरूप को एक विशिष्ट शब्दावली के साथ प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार विशेष प्रक्रिया को जीवन में अपनाने वाले व्यक्ति को गुरु कहा गया है-यथा-

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सभाजयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते॥[१]

अर्थात् जो निषेकादि (गर्भाधानादि) संस्कारों को यथाविधि करता है तथा अन्नादि की व्यवस्था से परिपुष्ट करता है, वह विप्र गुरु कहा जाता है। आचार्य कुलूक भट्ट ने यहाँ पिता को गुरु रूप में स्वीकृत किया है। उन्होंने विधिपूर्वक निषेकादिसंस्कार का कर्त्ता पिता को स्वीकार किया है, जैसाकि उनकी टीका से स्पष्ट है-''**निषेको गर्भाधानं तेन पितुरयं गुरुत्वोपदेशः, गर्भाधानादीनि संस्कारकर्माणि पितुरुपदिष्टानि यथा-शास्त्रं यः करोति अन्नेन च संवर्धयति स विप्रो गुरुरुच्यते।**''

महाराज मनु ने वेदों के अध्यापयिता आचार्य को गुरु शब्द से बोधित करके सम्मानित किया है, क्योंकि ''**गृणाति उपदिशति वेदान्**'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वेदों का विधिवत् उपदेश का कर्त्ता गुरु होता है। आचार्य यथाविधि वेदोपवेद का सर्वाङ्ग अध्ययन करके पुनः विद्यार्थी को वेदज्ञान प्रदान करता है। अत एव मनु ने आचार्य के चरणों में उपतिष्ठ होकर वेदाध्ययनकर्त्ता के विषय में कहा है-

षट् त्रिंशदाब्दिकं चर्य गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदधिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा॥[२]

इस प्रकार आचार्य से वेदाध्ययन करके आचार्य (गुरु) की आज्ञा से ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश का अधिकार ब्रह्मचारी को दिया गया है। यथा-

---

१. मनु० २.१४२.

२. मनु० ३.१.

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेद् द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥[१]

इस प्रकार मनु जी ने सर्वाङ्ग वेदाभ्यास कराने वाले आचार्य के लिए गुरु शब्द का प्रयोग किया है। संसार में देखा जाता है कि जो समग्र वेदों का अध्यापन तो नहीं करता, किन्तु एकदेशीय वेदज्ञान को प्रदान करता हुआ, शिष्य की ज्ञानवृद्धि करता हुआ, मार्गनिर्देशन करता है, वह भी गुरु पद को प्राप्त करता है। अत एव क्वचित् गुरु शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार भी द्रष्टव्य है-"**गृणाति उपदिशति किञ्चिदपि यः सोऽपि गुरुरेव।**" मनु ने इस व्युत्पत्ति के औचित्य का निर्वाह करते हुए स्वयं स्वीकार किया है कि अल्पता में भी विद्यादान का कर्त्ता गुरुपद से व्यवहर्त्तव्य है। यथा-

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया॥[२]

संसार में प्रायः देखा जाता है कि समय-समय पर कुछ ऐसी दिव्य विभूतियों के दर्शन होते हैं, जिनका व्यक्तित्व प्रभावशाली होता है तथा जो अपने सदाचार, तपस्या एवं निष्ठा से परिपूर्ण जीवन को अन्तर्मुखीवृत्ति के साथ जीते हुए, निरन्तर वेद एवं शास्त्रों के अभ्यास में रत रहते हैं। इस प्रकार के श्रद्धेय व्यक्तित्व के लिए भी गुरु शब्द का प्रयोग किया जाता है। संसार के समस्त साधु, सन्त, महात्मा, तपस्वी गुरुपद वाच्य हैं, इसकी पुष्टि निम्न व्युत्पत्ति के अनुसार हो जाती है-"**गीर्यते स्तूयतेऽसौ ज्ञानतपोवृद्धत्वात्**" अर्थात् जो ज्ञानवृद्ध तथा तपोवृद्ध है, वह गुरुस्थानीय है। अत एव कहा है कि "**ज्ञानप्रभावान्वितत्वात् तपोबलप्राधान्याद्वा पूज्यतमो महात्मा गुरुरुच्यते।**" अर्थात् जो व्यक्ति समाज में नैतिक-मूल्यों के प्रति जागरूक होकर मानव-समाज को शुद्ध विचार देता है, ईश्वर के प्रति विश्वास को जगाता है, आचार-विचार की पवित्रता का उपदेश करता है, उसको भी गुरु-सम्मान से

---

१. मनु० ३.४.

२. मनु० २.१४९.

सम्मानित करना कर्त्तव्य माना गया है। क्योंकि **''गृणाति उपनीय सन्ध्योपासनाचारादीनि कर्माणि उपदिशति इति गुरुः''** इस व्युत्पत्ति के अनुसार धर्माचरण की ओर प्रवृत्त करने वाले उपदेष्टा अथवा मन्त्रदाता को गुरु कहा जाता है। अत एव मनु ने भी इसी आशय को इस प्रकार व्यक्त किया है-

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यञ्च सन्ध्योपासनमेव च॥[१]

यहाँ यह तो स्पष्ट है कि अक्षरविद्या के दाता को ही गुरु नहीं कहा जाता, अपितु शुचिता एवं आचारवादिता के प्रति निष्ठावान् व्यक्तित्व का निर्माण करने वाला **गुरु** कहा जाता है। लोक-परम्परा के अनुसार कुछ व्यक्ति आचार्य, उपाचार्य एवं अध्यापक के अतिरिक्त एक स्थान पर आसीन, साधनालीन व्यक्ति को भी गुरु रूप में स्वीकार करते हैं तथा सुखात्मक एवं दु:खात्मक स्थिति में उससे विचार-विमर्श करके सत्त्वप्रधानवृत्ति के धनी होकर आत्मतोष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार उपागत व्यक्ति के मनस्ताप का हरण कर आह्लादमयी स्थिति को उत्पन्न करने वाले व्यक्ति के लिए **मन्त्रद गुरु** का प्रयोग किया है। मन्त्रद गुरु का सत्यस्वरूप तो वास्तव में कल्याणकारी है तथा सर्वतोभद्र है, किन्तु प्राय: देखा जाता है कि अधुनातनक्रम में मन्त्रद गुरु के विषय में जनसमूह भ्रान्त हो जाता है तथा अनेक प्रकार से वञ्चक मन्त्रद गुरु की सन्निधि प्राप्त कर अज्ञानवश कुपथगामी हो जाता है। अत: मन्त्रद गुरु का चयन एवं वरण अत्यन्त सावधानी के साथ करना चाहिये। युक्तिकल्पतरु नामक ग्रन्थ में मन्त्रद गुरु के कुछ विशेष गुण व्याख्यात किये गए हैं, जिनके आधार पर मन्त्रद गुरु की परीक्षा की जा सकती है, वे गुण निम्न हैं-

शान्तोदात्तो कुलीनश्च विनीतः शुद्धवेशवान्।
शुद्धाचारः सुप्रतिष्ठः शुचिर्दक्षः सुबुद्धिमान्॥
आश्रमी ध्याननिष्ठश्च मन्त्रतन्त्रविशारदः।

---

१. मनु० २.६९.

निग्रहानुग्रहे शक्तो गुरुरित्यभिधीयते॥
उद्धर्तुं चैव संहर्तुं समर्थो ब्राह्मणोत्तमः।
तपस्वी सत्यवादी च गृहस्थो गुरुरुच्यते॥[१]

यह सत्य है कि गुरु ज्योतिपुञ्ज के रूप में स्वीकार्य है, क्योंकि जो पथभ्रष्ट नहीं है, ऐसे सदाचारी व्यक्ति के गुरुमुख से निःसृत शब्दज्योति ही प्रकाशदीपिका बनकर, उसके जीवनपथ को आलोकित करती है। अतः मानव-जीवन के साथ गुरु का सम्बन्ध अपरिहेय है। किन्तु इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि कोई कितव शठवृत्ति का आश्रय लेकर गुरुपद की गरिमा को नष्ट न करे, इसके लिए विशेष उत्तरदायित्व राजव्यवस्था का है। अतः राजा को चाहिये कि वह निर्दिष्ट विशिष्ट गुणों से युक्त व्यक्ति को स्वयं समर्चित करे तथा प्रजा को भी ऐसे ही दिव्यगुणों से युक्त व्यक्ति को गुरु रूप में मानने का आदेश दे। युक्तिकल्पतरु नामक ग्रन्थ में वरणीय गुरु के विशेष गुणों का वर्णन इस प्रकार किया गया है-

सदाचारः कुशलधीः सर्वशास्त्रार्थपारगः।
नित्यनैमित्तकानां च कार्याणां कारकः शुचिः॥
अपर्वमैथुनपरः पितृदेवार्चने रतः।
गुरुमन्त्रो जितक्रोधो विप्राणां हितकृत्सदा॥
दयावान् शीलसम्पन्नः सत्कुलीनो महामतिः।
परदारेषु विमुखो दृढसङ्कल्पो द्विजः॥
अन्यैश्च वैदिकगुणैर्युक्तः कार्यो गुरुर्नृपैः॥[२]

इस प्रकार जहाँ गुरु के स्तुत्यस्वरूप का वर्णन करके उसको वरणीय कहा है, वहीं ग्रन्थों में उन दोषों का भी वर्णन किया गया है, जिनके कारण गुरु वर्जनीय हो जाता है। वे दोष ये हैं-

---

१. युक्तिकल्पतरु।

२. युक्तिकल्पतरु।

सम्मानित करना कर्त्तव्य माना गया है। क्योंकि **"गृणाति उपनीय सन्ध्योपासनाचारादीनि कर्माणि उपदिशति इति गुरुः"** इस व्युत्पत्ति के अनुसार धर्माचरण की ओर प्रवृत्त करने वाले उपदेष्टा अथवा मन्त्रदाता को गुरु कहा जाता है। अत एव मनु ने भी इसी आशय को इस प्रकार व्यक्त किया है-

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यञ्च सन्ध्योपासनमेव च॥[१]

यहाँ यह तो स्पष्ट है कि अक्षरविद्या के दाता को ही गुरु नहीं कहा जाता, अपितु शुचिता एवं आचारवादिता के प्रति निष्ठावान् व्यक्तित्व का निर्माण करने वाला **गुरु** कहा जाता है। लोक-परम्परा के अनुसार कुछ व्यक्ति आचार्य, उपाचार्य एवं अध्यापक के अतिरिक्त एक स्थान पर आसीन, साधनालीन व्यक्ति को भी गुरु रूप में स्वीकार करते हैं तथा सुखात्मक एवं दुःखात्मक स्थिति में उससे विचार-विमर्श करके सत्त्वप्रधानवृत्ति के धनी होकर आत्मतोष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार उपागत व्यक्ति के मनस्ताप का हरण कर आह्लादमयी स्थिति को उत्पन्न करने वाले व्यक्ति के लिए **मन्त्रद गुरु** का प्रयोग किया है। मन्त्रद गुरु का सत्यस्वरूप तो वास्तव में कल्याणकारी है तथा सर्वतोभद्र है, किन्तु प्रायः देखा जाता है कि अधुनातनक्रम में मन्त्रद गुरु के विषय में जनसमूह भ्रान्त हो जाता है तथा अनेक प्रकार से वञ्चक मन्त्रद गुरु की सन्निधि प्राप्त कर अज्ञानवश कुपथगामी हो जाता है। अतः मन्त्रद गुरु का चयन एवं वरण अत्यन्त सावधानी के साथ करना चाहिये। युक्तिकल्पतरु नामक ग्रन्थ में मन्त्रद गुरु के कुछ विशेष गुण व्याख्यात किये गए हैं, जिनके आधार पर मन्त्रद गुरु की परीक्षा की जा सकती है, वे गुण निम्न हैं-

शान्तोदात्तो कुलीनश्च विनीतः शुद्धवेशवान्।
शुद्धाचारः सुप्रतिष्ठः शुचिर्दक्षः सुबुद्धिमान्॥
आश्रमी ध्याननिष्ठश्च मन्त्रतन्त्रविशारदः।

---

१. मनु० २.६९.

निग्रहानुग्रहे शक्तो गुरुरित्यभिधीयते॥
उद्धर्तुं चैव संहर्तुं समर्थो ब्राह्मणोत्तमः।
तपस्वी सत्यवादी च गृहस्थो गुरुरुच्यते॥ [१]

यह सत्य है कि गुरु ज्योतिपुञ्ज के रूप में स्वीकार्य है, क्योंकि जो पथभ्रष्ट नहीं है, ऐसे सदाचारी व्यक्ति के गुरुमुख से निःसृत शब्दज्योति ही प्रकाशदीपिका बनकर, उसके जीवनपथ को आलोकित करती है। अतः मानव-जीवन के साथ गुरु का सम्बन्ध अपरिहेय है। किन्तु इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि कोई कितव शठवृत्ति का आश्रय लेकर गुरुपद की गरिमा को नष्ट न करे, इसके लिए विशेष उत्तरदायित्व राजव्यवस्था का है। अतः राजा को चाहिये कि वह निर्दिष्ट विशिष्ट गुणों से युक्त व्यक्ति को स्वयं समर्चित करे तथा प्रजा को भी ऐसे ही दिव्यगुणों से युक्त व्यक्ति को गुरु रूप में मानने का आदेश दे। युक्तिकल्पतरु नामक ग्रन्थ में वरणीय गुरु के विशेष गुणों का वर्णन इस प्रकार किया गया है-

सदाचारः कुशलधीः सर्वशास्त्रार्थपारगः।
नित्यनैमित्तकानां च कार्याणां कारकः शुचिः॥
अपर्वमैथुनपरः पितृदेवार्चने रतः।
गुरुमन्त्रो जितक्रोधो विप्राणां हितकृत्सदा॥
दयावान् शीलसम्पन्नः सत्कुलीनो महामतिः।
परदारेषु विमुखो दृढसङ्कल्पो द्विजः॥
अन्यैश्च वैदिकगुणैर्युक्तः कार्यो गुरुर्नृपैः॥ [२]

इस प्रकार जहाँ गुरु के स्तुत्यस्वरूप का वर्णन करके उसको वरणीय कहा है, वहीं ग्रन्थों में उन दोषों का भी वर्णन किया गया है, जिनके कारण गुरु वर्जनीय हो जाता है। वे दोष ये हैं-

---

१. युक्तिकल्पतरु।

२. युक्तिकल्पतरु।

अभिशप्तमपुत्रञ्च सन्नध्यं कितवं तथा।
क्रियाहीनं कल्पाङ्गं वामनं गुरुनिन्दकम्॥
सदा मत्सरसंयुक्तं गुरुं मन्त्रेषु वर्जयेत्।
गुरुर्मन्त्रस्य मूलं स्यात् मूलशुद्धौ सदा शुभम्॥[१]

इस प्रकार भारतीय ग्रन्थों में जहाँ विद्यादाता, उपाध्याय, आचार्य, महात्मा, उपदेष्टा, साधनालीन संन्यासी को गुरु कहा गया है, वहीं पारिवारिक ज्येष्ठजनों के प्रति भी गुरुपद का प्रयोग किया गया है। पितृपक्ष तथा मातृपक्ष के किस-किस व्यक्ति को गुरुपद से अलङ्कृत किया जाए, इसका हमें स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। कूर्मपुराण में कौन-कौन व्यक्ति गुरु होते हैं, उसका वर्णन इस प्रकार है-

उपाध्यायः पिता ज्येष्ठभ्राता चैव महीपतिः।
मातुलः श्वशुरस्त्राता मातामहपितामहौ॥
बन्धुर्ज्येष्ठः पितृव्यश्च पुंस्येते गुरवः स्मृताः।
मातामही मातुलानी तथा मातुश्च सोदरा॥
श्वश्रूः पितामही ज्येष्ठाधात्री च गुरवस्त्रिषु।
इत्युक्तो गुरुवर्गोऽयं मातृतः पितृतो द्विजाः॥[२]

महाकवि कालिदास ने उक्त मान्यता के आधार पर 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक में शकुन्तला को स्वपतिगृह प्रेषित करते समय '**शुश्रूषस्व गुरून्**' कह माता-पिता तथा कुल के सभी ज्येष्ठ व्यक्तियों के लिए गुरु शब्द का प्रयोग किया है। राजा के लिए भी कालिदास ने गुरु शब्द का प्रयोग किया है, जैसे-

तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं गुरुर्नृपाणां गुरवे निवेद्य[३]

---

१. कालिकापुराण, ५४.
२. कूर्मपुराण, उपवि० अ०१४.
३. रघु० २.६९.

इसी प्रकार विद्यादान करने वाले ऋषि के प्रति कालिदास ने ससम्मान गुरु शब्द का प्रयोग किया है। रघुवंश के पञ्चम सर्ग में जब वरतन्तु ऋषि का शिष्य कौत्स राजा रघु के समीप आता है तो सर्वप्रथम राजा उसके गुरु का कुशलक्षेम जानने की इच्छा से इस प्रकार कहता है-

अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धेः कुशली गुरुस्ते।
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः॥[१]

कालिदास ने कुल-पुरोहित के लिए स्पष्टरूप से गुरु शब्द का प्रयोग किया है। राजा दिलीप के द्वारा वशिष्ठ की सेवा का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है-

गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ समाप्य साध्यं च विधिर्दिलीपः।[२]

इस प्रकार संस्कृत वाङ्मय में गुरु शब्द का बहुलता में प्रयोग देखकर यह कहा जा सकता है कि गुरु का अर्थ समाज में अत्यन्त व्यापक रहा है तथा यह भी सत्य है कि उसकी व्यापकता का आधार ज्ञानवृत्ति रही है। चाहे सम्बन्धों की ज्येष्ठता के आधार पर हमने किसी को गुरु कहा हो अथवा विद्या से किसी भी प्रकार सम्बन्ध रखकर, समाज का कल्याण करने वाले विद्वज्जन को गुरुपद से व्यपदिष्ट किया हो, सभी में गुरुता का कारण उपदेशवृत्ति ही रही है। अतः न केवल चेतन जगत् में ही गुरु शब्द की व्यापकता है, अपितु अचेतन जगत् में भी। यदि किसी ने वन, नदी, पर्वत, चन्द्रोदय या सूर्योदय को देखकर किसी प्रकार की ज्ञानात्मक प्रवृत्ति का उन्मेष होते देखा है, तो वह भी निःसन्देह गुरुपद वाच्य हो गया है, क्योंकि व्यक्ति को कहीं से बोध हो सकता है। अत एव किसी ने कहा है-

कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः शत्रुश्चाबुद्धिमताम्।

वेद के ऋषि ने भी सम्भवतः इसी भावना के साथ-

---

१. रघु० ५.४.

२. रघु० २.३.

उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत॥[१]

इस मन्त्र को कहकर बुद्धिमान्, मनस्वी, तेजस्वी, ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण होने का सन्देश दिया है। यह समस्त संसार शब्दमय है। शब्द के प्रकाश में ही यह प्रकाशित है, शब्द ही ज्योति है, ज्योति ही जीवन है। अत: शब्द का अनाहत नाद जहाँ से उठता हो वही गुरु है, उस अनाहत नाद को नादित करने वाला प्रत्येक प्रेरक गुरु है।

आचार्य का स्वरूप

दृश्यमान जगत् में जितना प्राचीन मानव है, उतनी ही प्राचीन उसकी संस्कृति भी है। श्रुति रूप में मानवमात्र के कल्याण के लिए ऋषियों ने जिस ज्ञान-ज्योति का साक्षात्कार किया, उसीने वेदसंज्ञा को प्राप्त किया। यह वैदिक संस्कृति ही मानव की आदिम संस्कृति है, यही सनातन है, यही पुराणरूपा है तथा यही अनीश्वर है। इसी संस्कृति को आर्यों की संस्कृति कहा गया है। इस संस्कृति में मानव-समाज की सम्पूर्ण संरचना में आचार्य का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दृष्टिगोचर होता है। क्योंकि "**ऋतेज्ञानान्नमुक्तिः**" के अनुसार मुक्ति में ज्ञान ही एकमात्र साधन है तथा ज्ञान का दाता आचार्य होता है। आचार्य ही समाज की वह ज्योतिगृह है, जहाँ से सभी को अपने-अपने प्रशस्त पथ का ज्ञान होता है अथवा सभी के बुद्धिदीप जिसकी सन्निधि प्राप्त कर प्रकाशमान हो उठते हैं।

यह समग्र जगत् शब्दज्योति के ही प्रकाश में अपने-अपने कार्य में संलग्न है। यदि शब्दज्योति न हो तो समग्र संसार तमसावृत होकर क्रियाशून्य हो जाएगा। आचार्य इस शब्दज्योति का प्रज्वालक है अत: उसका महत्त्व समाज में सर्वथा अपरिहार्य है। अथर्ववेद में आचार्य एवं ब्रह्मचारी के स्वरूप को अत्यन्त सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि मानव-जीवन की सच्ची एवं पूर्ण उन्नति प्रदान करने वाली वैदिक शिक्षापद्धति का विशुद्धतम रूप वहाँ दृष्टिगोचर होता है। अथर्ववेद में आचार्य की महिमा को जिस प्रकार

१. यजु० २६.१५.

प्रकट किया है, उससे आचार्य का वास्तविक उज्ज्वल स्वरूप सामने आता है। वहाँ आचार्य के पाँच रूप निम्न प्रकार से परिगणित किये गये हैं-

आचार्यो मृत्युर्वरुण: सोम ओषधय: पय:।[१]

आचार्य का मृत्युरूप-जब ब्रह्मचारी आचार्य के समीप आता है और उसका वरण कर लेता है, तब आचार्य सर्वप्रथम अपने को मृत्युरूप में प्रस्तुत करता है। मृत्यु का अर्थ यहाँ **'यम'** है, क्योंकि **'यम'** जिस प्रकार सभी का नियमन करता है, उसी प्रकार आचार्य ब्रह्मचारी के गुरुकुल में आने से पूर्व के समस्त कुसंस्कारों का मृत्यु बनकर भक्षण करता है। छात्र में सुसंस्कार का आधान हो, इससे पूर्व उसके कुसंस्कारों का क्षय होना आवश्यक है। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने यम का अर्थ इस प्रकार किया है-"**य: सर्वान् प्राणिनो नियच्छति, स यम:।**"[२] यद्यपि यहाँ यम का अर्थ परमेश्वर को ध्यान में रखकर किया गया है, तथापि यह यमवृत्ति आचार्य में भी गौणिक रूप से दृष्टिगत होती है, अत: उसको भी यम नाम से बोधित किया गया है। जिस समय आचार्य-

"वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि पायुं ते शुन्धामि चारित्रांस्ते शुन्धामि।"[३]

इस मन्त्र का पाठ करते हुए उपनीयमान ब्रह्मचारी की प्रत्येक इन्द्रिय का नामग्रहण पूर्वक कथन कर रहा होता है, उस समय निश्चय ही आचार्य उसके समस्त इन्द्रियगत पूर्व दोषों का वारण कर रहा होता है। यह आचार्य का मृत्युरूप ही कहा जाता है। अत: ब्रह्मचारी-निर्माण में आचार्य के मृत्युरूप की सर्वप्रथम स्तुति की गयी है।

आचार्य का वरुणरूप-द्वितीय आचार्य का वरुण रूप है। वेदों में स्थान-स्थान पर वरुण का पाशजाल में बाँधने तथा उससे मुक्त कराने वाले के रूप में स्मरण किया गया है।

---

१. अथर्व० ११.५.१४.

२. सत्यार्थ प्र० पृ०१०.

३. यजु० ६.१४.

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यद्यपि वरुण का अर्थ परमात्मा किया है, तथापि उन्होंने विद्वज्जन, न्यायाधीश, आचार्य इत्यादि भी अनेक अर्थ किये हैं। स्वामी जी के अनुसार वरुण शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार है-

''यः सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून् धर्मात्मनो वृणोति अथवा शिष्टैर्मुमुक्षुभिर्धर्मात्मभिश्च व्रियते वर्ण्यते वा स वरुणः।''[१]

आचार्य का शिष्ट व्यक्तियों द्वारा वरण किया जाता है। ब्रह्मचारी भी प्रथम आचार्य का वरण करता है, तत्पश्चात् आचार्य उसे अपने द्वारा वरण करता है। आचार्य ब्रह्मचारी को उसके बौद्धिक, मानसिक आदि बन्धनों से मुक्त करता है तथा अपने द्वारा दी गयी बौद्धिक एवं मानसिक चिन्तना से बन्धन में बाँधता है। यही आचार्य का वरुण रूप है। जब आचार्य ब्रह्मचारी के हृदय पर हाथ रखकर-

मम व्रते ते हृदयं दधामि मच्चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥[२]

इस मन्त्र का पाठ कर रहा होता है, उस समय वह वरुण रूप का मानो साक्षात् रूप होकर अपने पाश में ब्रह्मचारी को बाँध रहा होता है।

आचार्य का सोमरूप-आचार्य का तृतीय रूप **सोम** का है। यद्यपि सोम के स्वामी दयानन्द जी द्वारा कृत अनेक अर्थ वैदिक कोश में उद्धृत किये गये हैं, किन्तु यहाँ आचार्य से सम्बद्ध तीन अर्थ वहाँ से गृहीत किये जा सकते हैं, जैसे-''**सोम-ऐश्वर्ययुक्त विद्वज्जन, विद्या सम्पादक-विद्वान्, चन्द्र इव वर्त्तमान विद्वज्जन।**''

इससे इतना तो स्पष्ट हो है कि सोम का सम्बन्ध आचार्य के उस रूप से है, जो बौद्धिक अभ्युदय की पराकोटि पर आसीन है। सोम रूप होकर आचार्य ब्रह्मचारी के जीवन को विद्या से पूर्णतया अलङ्कृत करता है। यहाँ यह कहना आवश्यक होगा कि आचार्य का

---

१. सत्यार्थ प्र० पृ०१६.

२. पा० २.२.१६.

सोमरूप विशेषकर उस ब्रह्मचारी के लिए है, जो ब्राह्मणवृत्ति का जीवन व्यतीत करना चाहता है, क्योंकि वैदिक परम्परा में वर्ण-व्यवस्था आचार्य द्वारा ही निश्चित की जाती थी। आचार्य ही अपने स्नातकों को ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य का वर्ण प्रदान किया करता था। यहाँ सोमरूप से अभिप्राय है आचार्य का ज्ञानप्रधान, तपस्याप्रधान तथा धर्मप्रधान जीवन धारण करना। आचार्य सच्चा ब्राह्मण तभी समाज को दे सकेगा, जबकि वह सोम रूप होकर उसके अङ्गप्रत्यङ्ग में समा जाएगा।

आचार्य का ओषधरूप-आचार्य का चतुर्थ रूप **ओषध** का है। ओषध से अभिप्राय उन भौतिक भक्ष्य या पेय पदार्थों से है, जिनके द्वारा व्यक्ति का शारीरिक विकास होता है। आचार्य ओषध रूप होकर ब्रह्मचारी के जीवन में क्षमता एवं शक्ति का संचार करता है। अन्य अर्थ में कह सकते हैं कि आचार्य जिस ब्रह्मचारी को वैश्यवृत्ति का बनाना चाहता है अथवा ब्रह्मचारी की रुचि व्यावसायिक पक्ष में अधिक दीखती है तो आचार्य उसके लिए ओषधरूप होकर उसे व्यावसायिक क्षेत्र का कुशल खिलाड़ी बनाता है। ओषध यहाँ पर सभी समृद्धिदायी भौतिक पदार्थों का सङ्केत करता है।

आचार्य का पयःरूप-आचार्य का पञ्चम रूप **पयस्** है। **पयस्** का अर्थ **जल** तथा **दुग्ध** स्थूल रूप से होता है। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि आचार्य को जल और दूध के गुणों से युक्त होना चाहिये। परन्तु पयस् का यहाँ आचार्य पक्ष में क्या अर्थ लें इस विषय में शतपथ-ब्राह्मण ने किञ्चित् मार्ग प्रशस्त किया है, वहाँ पयस् का अर्थ-"**क्षत्रं वै पयः।**"[१] इस प्रकार किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि यहाँ आचार्य के क्षत्रिय रूप का वर्णन है अर्थात् जो ब्रह्मचारी क्षत्रियवृत्ति का होना चाहता है, उसे समस्त अस्त्र-शस्त्रादि में निपुण कराने के लिए पयःरूप (क्षत्रिय) होकर आचार्य को ब्रह्मचारी के जीवन में समाविष्ट होना चाहिये।

---

१. शत० ब्रा० १२.७.३.८.

आचार्य और ब्रह्मचारी का सम्बन्ध उपनयन के बाद ही प्रारम्भ होता है, क्योंकि उपनीत ब्रह्मचारी को ही आचार्य अपने गर्भ में धारण करता है। जैसे कि अथर्ववेद में- **''आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।''**[१]

यहाँ गर्भ में धारण करने का अभिप्राय यही है कि जिस प्रकार माता के गर्भ में स्थित शिशु, माता के द्वारा भुक्त पदार्थ से पुष्टि को प्राप्त करता है तथा माता द्वारा ही देखे गये दृश्य का दर्शन करता है, उसके ही द्वारा सुने गये का श्रवण करता है, उसी प्रकार गर्भस्थ ब्रह्मचारी भी आचार्य द्वारा अनुमोदित पदार्थ खाता है, उसके द्वारा अनुमोदित दृश्य देखता है तथा उसके द्वारा अनुमोदित श्रव्य का श्रवण करता है। इस प्रक्रिया के साथ आचार्य की इच्छानुसार ही ब्रह्मचारी के चरित्र का निर्माण होता है।

आचार्य को जहाँ वेद में इतनी प्रतिष्ठा दी गयी है, वहीं ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी उसका महत्त्व पुनः दोहराया गया है। शतपथ-ब्राह्मण में **''मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद''** कहकर आचार्य को पुरुष-निर्माण की प्रक्रिया में प्रतिष्ठित किया गया है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में आचार्य को धर्मोपदेश द्वारा मानव का निर्माण करने वाला स्वीकृत किया गया है। एक प्रकार से हम धर्मोपदेष्टा को आचार्य कह सकते हैं, किन्तु यहाँ धर्मोपदेष्टा से अभिप्राय केवल अध्यात्म का उपदेश करने वाले से नहीं, अपितु उस उपदेष्टा से है जो समाज के प्रत्येक वर्ग के प्रति मानव को ज्ञानपूर्वक कर्म करने की प्रेरणा प्रदान करता है। इस प्रकार के सन्मार्गप्रेरक आचार्य के प्रति द्रोह करने का सर्वथा ही निषेध किया गया है। माता-पिता से भी अधिक महत्त्व आचार्य का है, क्योंकि माता-पिता केवल शरीर का निर्माण करते हैं, आचार्य तो विद्या द्वारा पुरुष का द्वितीय जन्म करता है। यह द्वितीय विद्या-जन्म ही मानव का श्रेष्ठ जन्म है, इसी आशय को आपस्तम्ब धर्मसूत्र में इस प्रकार देखा जा सकता है-

---

१. अथर्व० ११.५.३.

"यस्माद् धर्मानाचिनोति स आचार्यः।"[१] "तस्मै न द्रुह्येत् कदाचन।"[२] "स हि विद्यास्तं जनयेति।"[३] "तच्छ्रेष्ठं जन्म। शरीरमेव मातापितरौ जनयतः।"[४]

महाभारत में हमें आपस्तम्ब की स्पष्ट छाया देखने को मिलती है, वहाँ माता-पिता को केवल शरीर का जन्म देने वाला ही कहा गया है तथा विद्या का एकमात्र सम्बन्ध आचार्य के साथ जोड़ा गया है तथा विद्याजन्य जन्म को अमृत से उपमीत किया गया है, जैसाकि निम्न श्लोक से स्पष्ट है-

शरीरमेव कुरुतः माता पिता च भारत।
आचार्यतश्च यज्जन्म तत्सत्यं वै यथाऽमृतम्॥[५]

तैत्तिरीयोपनिषद् में शिक्षावल्ली के अन्तर्गत अधिविद्य प्रकरण में आचार्य को पूर्वरूप तथा ब्रह्मचारी को उत्तररूप कहा गया है। इसी प्रकार भागवत पुराण में भी ठीक इसीका अनुसरण किया गया है तथा आचार्य को पूर्वारणि मानकर प्रतिष्ठा प्रदान की गयी है। यथा-

"अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या सन्धिः। प्रवचनं सन्धानम्।"[६]

आचार्योऽरणिराद्यः स्यादन्तेवास्युत्तरारणिः।
यत्सन्धानं प्रवचनं विद्या सन्धिः सुखावहा॥[७]

मनु महाराज ने मनुस्मृति में आचार्य द्वारा मानव समाज को प्रदत्त वर्ण व्यवस्था को ही जाति के नाम से व्यवहृत किया है। उनके अनुसार वेदों में पारङ्गत आचार्य मनुष्य की जिस

---

१. आप० १.१.१४.

२. आप० १.१.१५.

३. आप० १.१.१६.

४. आप० १.१.१७-१८.

५. महाभारत।

६. तैत्ति०शि०३.३.

७. भागवत पुराण ११.१०.१२.

जाति को निश्चित करता है, अथवा जातीय व्यवस्था प्रदान करता है, वही मान्य है। इससे सिद्ध है कि माता-पिता या वंश का जाति अथवा वर्ण से कोई सम्बन्ध नहीं है। उक्त व्यवस्था में एकमात्र आचार्य ही प्रमुख है। यथा-

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवत् वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा नित्या साऽजरामरा॥[१]

मनु महाराज ने केवल विद्यादान करने वाले को ही आचार्य नहीं कहा है, उनके मतानुसार आचार्य को शिष्य का प्रथम उपनयन करना चाहिये, तदनन्तर अल्पविद्या का नहीं अपितु समस्त वेद-वेदाङ्ग का सरहस्य ज्ञान कराना आचार्य का पूर्ण दायित्व होता है, क्योंकि मनु के मत में आचार्य साक्षात् ज्ञानमूर्ति के रूप में कहे गये हैं। यथा-

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं विदुर्बुधाः॥[२]
आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः।[३]

आचार-परम्परा का आचार्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। आचार्य द्वारा निर्दिष्ट आचार ही समाज में प्रचलित होता है। किन्तु आचार्य को स्वयं उस आचार-परम्परा का पालक होना आवश्यक है, इसीलिए ऐतरेय आरण्यक में इसका सङ्केत इस प्रकार किया गया है-

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन कीर्त्यते॥[४]

लिङ्ग पुराण में आचार्य का स्वरूप शास्त्रीय अर्थो का चयन करने वाले के रूप में प्राप्त होता है। किन्तु निगूढ शास्त्रीय चिन्तन के साथ-साथ आचार्य को यम एवं नियमों का पालन अवश्य करना चाहिये। इससे यह विदित होता है कि सूक्ष्म चिन्तना के लिए यम-

१. मनु० २.१४८.
२. मनु० २.१४०
३. मनु० २.२२६
४. ऐ०आ० ३.२.६

नियम का पालन अपरिहेय है। अन्यथा आचार्य प्रमादवश कुछ ऐसे अर्थों की परिकल्पना कर लेगा, जिसके ग्रहण करने में मानव समाज का अहित हो सकता है तथा कुछ कुप्रथाएँ चल सकती हैं।

आचिनोति च शास्त्रार्थान् यमैः सनियमैर्युतः।[१]

अब तक आचार्य के स्वरूप को मुख्यतया तीन रूपों में देखा गया है। किसी ने आचार-परम्परा के साथ उसको घनिष्ठ रूप में जोड़ा है, किसी ने विद्या के साथ तथा किसी ने उभय रूप में आचार्य के दर्शन किए हैं। वास्तव में आचार्य का स्वरूप सदाचारी विद्वान् के रूप में मान्य है। इसीलिए यास्क मुनि ने निरुक्त में आचार्यविषयक सभी मान्यताओं का एक स्थान पर समाकलन करते हुए जो निर्वचन किया है, वह स्वयं में परिपूर्ण है तथा उसकी समस्त विद्वत् समाज में मान्यता रही है। यास्कीय निर्वचन इस प्रकार है-

"आचार्यः कस्मात्? आचार्य आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा।"[२]

यास्क की यह आचार्य की व्याख्या आचार्य के बौद्धिक, आत्मिक, सामाजिक तथा व्यावहारिक सम्भूतियों की सर्वस्वता को अपने में समाहित कर रही है।

अतः समाज में इस प्रकार के आचार्य की सर्वदा प्रतिष्ठा होनी चाहिये। प्रतिमानव का सम्पर्क आचार्य के साथ अवश्य होना चाहिए।

प्रस्तुत लेख में वर्णित आचार्य-गुणों से परिपूर्ण आ®ा³ी का सामीप्य ही वह सोमरस है, जिसके पानमात्र से अद्भुत तृप्ति होती है। आ®ा³ी का जीवन ही वह पर्जन्य है, जिसके वृष्टिबिन्दु परितप्त मानव की मनोभूमि को आशारस भरे भावाङ्कुरों से हरा-भरा कर देते हैं। आ®ा³ी का सदुपदेश ही वह ज्ञानसागर है, जिसमें श्रद्धालुजन को विभिन्न मूल्यवान् हीरे-मोती प्राप्त होते हैं। आ®ा³ी द्वारा प्रवाहित आचार-परम्परा ही वह कलकलनादवाहिनी

---

१. लिङ्ग पुराण २०.२

२. निर० १.२.

सुरधुनी (गङ्गा) है, जिसमें स्नान करके लाखों नर-नारी मानसिक मुक्ति के अधिकारी बनते हैं। आचार्य का सामीप्य ही वह पारसमणि है, जिसके सम्पर्कमात्र से लौहपिण्ड भी स्वर्ण बन जाता है। आचार्य का स्नेहिल दृष्टिपात ही माता का ममता भरा हृदय है, जिसमें सारा संसार वात्सल्य भाव में निहित है। आचार्य की कृपा वह रज्जु है, जिसको पकड़कर अविद्या-कूप में पड़ा व्यक्ति बाहर आकर विद्या के उन्मुक्त वातावरण में विचरण करने लगता है। वैदिक आचार्य की शास्त्रदृष्टि से यदि मानव देखे, उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से चले तो निश्चय ही जगत् में मानव-जीवन से संत्रास भरी विसङ्गतियों का वारण होकर एक शान्तिप्रदायिनी सर्वविघ्नहारिणी परम्परा का उदय होगा।

प्रो० वेद प्रकाश शास्त्री

आचार्य एवं उपकुलपति

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार-२४९४०४

चरित्र निर्माण में गुरुकुल शिक्षा-पद्धति का महत्त्व

आचार्य विनयकुमार शर्मा
डायरेक्टर एजूकेशन
उत्तरांचल आयुर्वैदिक कॉलेज, देहरादून.

आधुनिक शिक्षा-पद्धति के सामाजिक दृष्टिकोण से पड़ने वाले प्रभावों का अगर विश्लेषण किया जाए तो यह तथ्य निश्चित रूप से स्पष्ट होता है कि विद्यार्थियों का बौद्धिक स्तर दिन-प्रतिदिन उन्नत होता जा रहा है, परन्तु उनके नैतिक स्तर में निरन्तर गिरावट आ रही है, जिसका सीधा प्रभाव समाज पर पड़ रहा है।

पिछले अनेक वर्षों के राष्ट्रीय ग्राफ के आंकड़े को देखने से यह बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि विशेषत: कॉन्वेन्ट या इंग्लिश स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की आपराधिक मानसिक प्रवृत्ति में ३० से ४० प्रतिशत की वृद्धि हुई है। इसका मुख्य कारण है कि सहशिक्षा में पढ़ने वाले विद्यार्थियों का महिला विद्यार्थियों के साथ बढ़ता शोषण, बलत्कार, हत्या व आत्महत्या प्रकरणों का निरन्तर सुर्खियों में छाया रहना।

मानसिक आपराधिक प्रवृत्ति की ओर विद्यार्थी क्यों अग्रसर होता है, इसके कई कारण हैं-मनोवैज्ञानिक यह मानते हैं कि प्रारम्भ से ही बच्चों पर उनके द्वारा किये जाने वाले क्रिया-कलापों पर निगरानी रखते हुए अंकुश न रखना उन्हें आपराधिक वृत्ति की ओर ले जाने का महत्त्वपूर्ण कारण है। यही बच्चे विद्यालय या महाविद्यालय में जाकर आपराधिक मनोवृत्ति को बढ़ाने में अग्रसर होते हैं। इसके अतिरिक्त आसमान छूती महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति का अभाव उन्हें आपराधिक मनोवृत्ति की ओर ले जाता है। इस प्रकार से तकनीकि रूप से मजबूत होते शैक्षिक वातावरण में नीचे की ओर जाते हुए नैतिक मूल्य विद्यार्थियों को भ्रष्ट आचरण की ओर अग्रसर कर देते हैं। विशेषत: ये विद्यार्थी उन्हीं संस्थाओं में अध्ययनरत होते हैं, जहाँ

उन्हें सभी सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं, जो चकाचौंध से भरे जीवन के लिये पर्याप्त होती हैं। महत्त्वाकांक्षा या कामनायें कभी समाप्त नहीं होतीं और उनकी पूर्ति का अभाव गरीब तथा अमीर दोनों प्रकार के विद्यार्थियों को आपराधिक मनोवृत्ति की ओर आकर्षित करता है। विद्यार्थी भविष्य के कर्णधार और राष्ट्र के भावी निर्माता हैं। देश के भविष्य का निर्माण उन्हीं के कन्धों पर होता है। क्या यह कल्पना की जा सकती है कि वर्तमान युवा पीढ़ी अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह उचित प्रकार से कर पायेगी। भ्रष्टाचार का सहारा लेकर युवा पीढ़ी के लोग देश के राजनीतिज्ञ तथा नेता बनने की होड़ लगाये हुए हैं। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी वे नौकरी पाने के लिये दर-दर की खाक छानते फिर रहे हैं। अपनी आवश्यकताओं और अपेक्षाओं के पूरा न होने पर उनमें निराशा और तनाव उत्पन्न होता है, जिससे वे आपराधिक मनोवृत्ति से ग्रस्त होकर अनेक प्रकार के दुष्कर्म करने में व्यस्त रहते हैं। आजकल के युग में उनका नैतिक दृष्टिकोण बदल रहा है, उनके आदर्श अब गुरु या महापुरुष नहीं हैं, परन्तु फिल्म अभिनेता या अभिनेत्रियाँ अथवा भ्रष्ट राजनीतिज्ञ उनके चहेते और पथ-प्रदर्शक बन गये हैं। इस प्रकार से नैतिक मूल्यों में गिरावट भविष्य के लिए शुभ संकेत नहीं है।

अगर हम चाहते हैं कि हमारे विद्यार्थी आदर्श नागरिक बनें और समाज तथा देश से भ्रष्टाचार दूर हो तो हमें बचपन से ही अपने विद्यार्थियों को नैतिक मूल्यों की प्रति आकर्षित करके उनके जीवन में उन्हें ओतप्रोत करना होगा। इसी विचारधारा का सहारा लेकर स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुलों की स्थापना की थी। गुरुकुल शिक्षाप्रणाली का उद्देश्य ऐसे विद्यार्थी और युवा व्यक्तियों का निर्माण करना है, जो समाज और देश के उत्थान के लिये समर्पित हों। भारतीय संस्कृति में विद्यार्थी जीवन कठोर और तपस्यामय होना चाहिये, ऐसी कामना की गई है। अनुशासित विद्यार्थी ही विद्याध्ययन में अग्रसर होकर अपने जीवन का निर्माण इस प्रकार से कर सकता है जिससे भयमुक्त समाज और राष्ट्र की स्थापना हो सके। मुझे स्मरण है कि गुरुकुल काँगड़ी के भूतपूर्व कुलपति श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार गुरुकुल को भारतीय कॉन्वेन्ट कहा करते थे। जिनकी स्थापना भारतीय संस्कृति के नैतिक मूल्यों के आधार पर की गई थी। उच्च शिक्षा के साथ-साथ खादी वेशभूषा की सादगी, कठोर एवं अनुशासनमय

दिनचर्या के पालन से विद्यार्थी को इस योग्य बना देना कि वह जीवन संघर्ष में निर्भय होकर अग्रसर होता रहे तथा सफलता प्राप्त करे।

उच्चशिक्षा ग्रहण करना, अनुशासन में जीवन व्यतीत करना तथा सच्चरित से विभूषित होकर अच्छे समाज का निर्माण करना अगर विद्यार्थियों का कर्त्तव्य है तो उनको इस योग्य बनाना शिक्षकों अथवा गुरुओं का दायित्व है। भारतीय संस्कृति में गुरु को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है, यहाँ तक कि गुरु को ईश्वर के समकक्ष रखते हुए उसकी पूजा का भी विधान है-

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः॥

गुरु के व्यक्तिगत जीवन का प्रभाव विद्यार्थियों पर पड़ता है। इसलिए शास्त्रों में कहा गया है कि गुरु को गुणवान् होना चाहिए।

गुरु शब्द का निर्माण दो अक्षरों से हुआ है-**गु** का शाब्दिक अर्थ है **अन्धकार** तथा **रु** अक्षर का अर्थ है **प्रकाश**। इस प्रकार से गुरु शब्द का भावार्थ होता है कि जो व्यक्ति अपने शिष्यों या विद्यार्थियों को अज्ञान रूपी अन्धकार से निकालकर ज्ञानरूपी प्रकाश की ओर अग्रसर करे। केवल विद्या का ज्ञान ही नहीं अपितु विद्यार्थी के मानसिक धरातल को भी प्रकाशवान् करना गुरु का कर्त्तव्य होता है। इसीलिए शास्त्रों में गुरु के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि गुरु उत्कृष्ट कुल में उत्पन्न हो, विद्यार्थियों से स्नेह करने वाला हो, राग-द्वेष से रहित हो, आस्तिक्यवृत्ति वाला हो, अनुकरणीय आचरण से युक्त हो, व्यसनों से रहित हो, क्रोध तथा अहंकार जिसे छू भी न गए हों, शास्त्रों के अर्थों के अतिरिक्त उसे कुशल प्रशासक भी होना चाहिए, जिससे विद्यालय अथवा महाविद्यालय का प्रबन्ध उचित प्रकार से हो सके।

आजकल शिक्षकों का चयन उनकी शैक्षणिक योग्यता के आधार पर ही किया जाता है, परन्तु उनके व्यक्तिगत चरित्र पर ध्यान नहीं दिया जाता है। इससे चरित्रहीन तथा अनुशासनविहीन शिक्षकों के दुर्गुणों का प्रभाव छात्रों पर भी पड़े विना नहीं रहता।

गुरुकुल शब्द का नामकरण ही गुरु की विशिष्टता को द्योतित करता है, विद्यार्थियों की शिक्षा, अनुशासन तथा चरित्र का निर्माण गुरु पर ही आश्रित होता है, इसीलिए गुरु के महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिये गुरुकुल शब्द का निर्माण हुआ है।

इसी भावना से अनुप्राणित होकर स्वर्गीय पंडित हरवंशलाल जी ने जोकि गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार के कुलाधिपति थे, गंगापार के प्राचीन गुरुकुल काँगड़ी की पुण्यभूमि के जीर्णोद्धार के लिये लाखों रुपये खर्च कर दिये थे। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि इस पुण्यभूमि में गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के अनुरूप योग्य उपदेशक तथा शिक्षक तैयार किये जायें जो आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार करें तथा विद्यालयों अथवा महाविद्यालयों में शिक्षक के रूप में नियुक्त होकर गुरुकुल की परम्परा को चिरस्थायी रूप में बनाए रक्खें। अगर हम सच्चे अर्थों में उन्हें श्रद्धाञ्जलि देना चाहते हैं तो हमारा कर्त्तव्य है बन जाता है कि हम उनकी मनोकामना को पूर्ण करें।

गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि विद्यार्थियों के चरित्र का निर्माण करने के लिए उनकी दिनचर्या पर विशेष ध्यान दिया जाता है। विद्यार्थियों का प्रत्येक पल सूचीबद्ध तरीके से निर्मित होता है, जिनका पालन कराना उनके अधिष्ठाताओं तथा गुरुओं का कर्त्तव्य होता है। प्रातः ब्राह्म मुहुर्त में जागने से लेकर रात्रि में सोने तक विद्यार्थी शृंखलाबद्ध तरीके से विद्याध्ययन करने, भोजन करने तथा खेलने आदि समस्त क्रियाकलापों में व्यस्त रहता है। इस प्रकार की दिनचर्या का लाभ यह होता है कि बचपन से ही अनुशासन में रहकर अपने कर्त्तव्यों का पालन करने से उसके जीवन की आधारशिला इतनी मजबूत हो बन जाती है कि वह चरित्रवान् होकर अपना समस्त जीवनि विना किसी कठिनाई के व्यतीत करने में तत्पर रहता है।

शिक्षा की दृष्टि से भी गुरुकुल में पढ़ने वाले विद्यार्थियों का बौद्धिक स्तर इंग्लिश स्कूलों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों से कम नहीं होता। हिन्दी, संस्कृत तथा इंग्लिश के समुचित ज्ञान के कारण ही गुरुकुल के विद्यार्थी तथा स्नातक अनेक प्रतियोगिताओं में अग्रसर रहते हैं।

इस प्रकार गुरुकुल शिक्षा-पद्धति ही एक ऐसी प्रणाली है. जिससे विद्यार्थियों के बौद्धिक स्तर के साथ-साथ उनका नैतिक स्तर भी उज्ज्वल रहता है, जिसके परिणामस्वरूप गुरुकुल के स्नातक अच्छे समाज का निर्माण करने तथा राष्ट्र निर्माण में अग्रसर रहते हैं।

आचार्य विनय कुमार शर्मा

डायरेक्टर एजूकेशन

उत्तरांचल आयुर्वैदिक कॉलेज

देहरादून.

गुरुकुल शिक्षा-पद्धति और आर्य समाज

डॉ. महेश विद्यालङ्कार

भारत की प्राचीनतम शिक्षा-पद्धति गुरुकुल शिक्षाप्रणाली रही है। इस देश के प्राचीन शिक्षा-केन्द्र नदियों, तपोवनों, जंगलों के शान्त और एकान्त स्थानों पर रहे हैं। इसी परम्परा में गुरुकुलों का स्थान आता है। गुरुकुलीय शिक्षा-पद्धति की समस्त प्राचीन ग्रन्थों में भूरि-भूरि प्रशंसा व महत्त्व का वर्णन मिलता है। गुरुकुल अर्थात् गुरु का कुल। जहाँ गुरु के सान्निध्य में रहना, खाना और अध्ययन करना हो। आश्रम-पद्धति गुरुकुलीय जीवन की आकर्षक, महत्त्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय विशेषता मानी गयी है। गुरुकुल के आधारभूत सिद्धान्त हैं-गुरु-शिष्य का दिन-रात का सम्बन्ध, दैनिक दिनचर्या और तपस्या का जीवन। स्थान, वातावरण, खान-पान, रहन-सहन, शिक्षा दीक्षा, आचार-विचार आदि का जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। बाल्यकाल में पड़े हुए संस्कार, शिष्टाचार, नैतिकमूल्य आदि का जीवन में स्थायी प्रभाव रहता है। गुरुकुलीय जीवन-पद्धति में नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और मानवीय मूल्यों पर विशेष बल दिया जाता है। अन्य संस्थाओं का मुख्य ध्येय किताबी शिक्षा देना है, जबकि गुरुकुलीय शिक्षा का मुख्य उद्देश्य भौतिक ज्ञान के साथ चरित्र-निर्माण और मानव-निर्माण को वरीयता देना है। आज संसार के सामने चरित्र-निर्माण तथा मानव-निर्माण का ज्वलन्त प्रश्न सामने खड़ा है। किसी के पास इस समस्या का समाधान नहीं है। ऋषि दयानन्द ने लुप्त गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति और आर्ष पाठविधि का पुनरुद्धार किया। उसीके फलस्वरूप भावनाशील, तपस्वी, त्यागी महापुरुषों ने ऋषि के निर्देशानुसार पठन-पाठन के लिये गुरुकुल खोले। लड़के और लड़कियों के गुरुकुल खोलने की एक लहर चली। इसी का परिणाम है कि आज देश में सैकड़ों गुरुकुल वैदिक शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार में सक्रिय हैं।

गुरुकुल शिक्षा-पद्धति और आर्य समाज का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। गुरुकुल भूमिरूप हैं और आर्य समाज भवन हैं। गुरुकुल 'आर्य' बनाने की टकसाल, निर्माणशाला

तथा फाउन्ड्री हैं। जहाँ 'आर्यसमाजी' दयानन्दी व सिद्धान्तवादी युवक घड़े और बनाए जाते हैं। बचपन में गुरुकुल के दिए हुए संस्कार, दिनचर्या, शिष्टाचार आदि आगे चलकर फलते व फूलते हैं। गुरुकुलों का इतिहास साक्षी है। गुरुकुलों से निकलने वाले स्नातकों ने आर्य समाज के प्रचार एवं प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। वर्तमान में जो आज अधिकांश पुरोहित, उपदेशक, विद्वान्, अधिकारी, कार्यकर्त्ता आदि मिल रहे हैं। वे किसी न किसी गुरुकुल व आर्यसमाजी संस्था व आश्रम से सम्बन्धित रहे हैं। ये ही लोग 'आर्यसमाज' के प्रचार-प्रसार में गति दे रहे हैं। आर्य समाज ने भवन, संस्थाएँ, संगठन, सम्पत्ति आदि तो बना ली है, लेकिन वह इनको संभालने वाले ईमानदार, सच्चरित्रवान्, समर्पित, सिद्धान्तप्रिय, पारदर्शी व्यक्तियों का निर्माण नहीं कर सका। इस भूल के कारण ही आर्य समाज की यह दशा और दिशा हो रही है।

आर्य समाज के पास अपार सम्पदा, संस्थाएँ, संगठन, सिद्धान्त, विचार, वेदज्ञान, आदि हैं। कमी है तो समर्पित, सेवाभावी, तपस्वी, त्यागी, मिशनप्रिय कार्यकर्त्ताओं और मार्गदर्शक विद्वानों, अधिकारियों व धर्माचार्यों की है, जो सिद्धान्त, उद्देश्य और आदर्श का मार्ग दिखा सकें। जो भूली-भटकी जनता का पथ-प्रदर्शन कर सकें। किसी भी संस्था, संगठन और विचारधारा के प्रचार व प्रसार में सच्चे भावनाशील कार्यकर्त्ताओं तथा मार्गदर्शकों की जरूरत होती है। गुरुकुल आर्यसमाजी कार्यकर्त्ताओं और योग्य विद्वानों के निर्माण की फैक्टरियाँ कहलाती हैं।

आज इन गुरुकुल रूपी फैक्टरियों में भी मूल में भूल हो रही है। जिन उद्देश्यों, सिद्धान्तों तथा मानवनिर्माण के लिये संस्थाओं को बनाया गया था। वे आधारभूत सिद्धान्त, आदर्श, मान्यताएँ, जीवनचर्या आदि कई गुरुकुलों में गायब हो रहे हैं। जब मूल ही खत्म हो रहा है, तब वहाँ निर्माण क्या होगा? कुछ गुरुकुल कॉलेज बनते जा रहे हैं। आश्रम पद्धति गुरुकुलीय जीवन की आत्मा कहलाती है। गुरुकुल कॉलेज बनना उसकी आत्महत्या के समान है। जो विद्यार्थी आश्रम में नहीं रहेगा, उसके खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार के सुधार की गारण्टी नहीं हो सकती है। गुरुकुल शब्द में तो आचार्य और आचरण का सम्बन्ध है। जो गुरुकुल कालेज बन रहे हैं, उनके विद्यार्थियों और बाहर कॉलेजों में पढ़ने वाले छात्रों

में कोई अन्तर नजर नहीं आता है। गुरुकुल शिक्षा की यही विशेषता रही है-वहाँ के पढ़े हुए छात्र की खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार, दिनचर्या आदि की अलग पहिचान होती है। गुरुकुलों के पूर्व निकले हुए स्नातकों और अब निकल रहे स्नातकों में प्रत्येक दृष्टि से बड़ा अन्तर है। गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय का उदाहरण हमारे सामने है। इस गुरुकुल ने देश-विदेश में जो स्नातकों के माध्यम से ख्याति प्राप्त की है, वह स्मरणीय और उल्लेखनीय है। गुरुकुल का महत्त्व एवं विशेषता-वेद, दर्शन, संस्कृत, संस्कृति, योग, इतिहास आदि की दृष्टि से बहुत ऊँचा माना जाता था। वर्तमान गुरुकुल ने आधुनिक विषयों की शिक्षा तो आरम्भ कर दी है, मगर पढ़ने और पढ़ाने वालों में गुरुकुलीयता, संस्कार, परम्परा, आचार-विचार, रहन-सहन आदि की दृष्टि से गुरुकुल पिछड़ रहा है। गुरुकुल अपने मूलभूत सिद्धान्तों, आदर्शों, निर्माण एवं प्रभाव की दृष्टि से अन्दर ही अन्दर खोखला हो रहा है। यह हम सबके लिये अत्यन्त विचारणीय व चिन्तनीय है। गुरुकुल के स्वरूप तथा आदर्शों की रक्षा करना, हम सब की नैतिक जिम्मेदारी है।

यदि आर्यसमाज की विचारधारा और प्रचार एवं प्रसार को आगे बढ़ाना है, तो मूलनिर्माण स्थल गुरुकुलों तथा संस्थाओं की ओर ईमानदारी व सच्चाई से ध्यान देना होगा। जब तक गुरुकुलों व संस्थाओं में मिशनरी भावना वाले कार्यकर्त्ता एवं विद्वान् उपदेशक, पुरोहित आदि तैयार नहीं होंगे। तब तक आर्यसमाज प्रखर रूप से उन्नति न कर सकेगा। समूचे आर्य जगत् में आधुनिकता व प्राचीनता के समन्वय वाला प्रेरक, रचनात्मक, निर्माणोन्मुखी आदर्श मिशनरी कार्यकर्त्ता व विद्वान् बनाने का कोई ट्रेनिंग सेन्टर नहीं है। मिशनरी कार्यकर्त्ताओं और विद्वान् उपदेशकों की सुविधा व सम्मान पर गम्भीरता से सोचना होगा। आर्यसमाज को आज खून की जरूरत है। वह रक्त गुरुकुलों से मिलेगा। इन संस्थाओं का मूल उद्देश्य आर्य समाज की विचारधारा के प्रचार व प्रसार का है। तभी गुरुकुल व आर्यसमाज एक दूसरे के पूरक बनेंगे, तभी उद्देश्य की पूर्ति होगी।

डॉ. महेश विद्यालङ्कार

दिल्ली

वैदिक शिक्षा

प्रो० महावीर

शिक्षा की परिभाषा करती हुई श्रुति कहती है कि 'या विद्या विमुक्तये' अर्थात् विद्या वह है जो हमें बन्धन से मुक्त कराती है, आत्मज्ञान कराती है। महर्षि दयानन्द के अनुसार 'जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियता आदि की बढ़ती होवे और अविद्यादि दोष छूटें', उसको शिक्षा कहते हैं। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में लिखा है- **'विद्ययाऽमृतमश्नुते'**[१] विद्या से अमरत्व की उपलब्धि होती है। योगेश्वर कृष्ण ने भी गीता में कहा है-**'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** अर्थात् ज्ञान के विना मुक्ति नहीं है। इस कसौटी पर वर्त्तमान शिक्षा सर्वथा असफल सिद्ध हुई है। आज हमारी शिक्षा नीति भटकाव के चौराहे पर खड़ी है। स्वतन्त्रता के बाद के हमारे शैक्षणिक कारखाने बेरोजगार नवयुवकों की भीड़ बढ़ाये जा रहे हैं। देश के शिक्षाशास्त्री वर्त्तमान शिक्षाप्रणाली में आमूलचूल परिवर्तन की बात कहते हैं, किन्तु वह परिवर्तन किस दिशा में हो, यह निर्णय वे नहीं कर पाते हैं। ऐसी भटकाव की स्थिति में मार्गदर्शन एवं शीतलता, तृप्ति और शान्ति की प्राप्ति के लिए वेदतरु की छाया में बैठकर चिन्तन करना होगा, क्योंकि भगवती श्रुति ही वह गंगोत्री है, जहाँ से पवित्र ज्ञान की भागीरथी प्रवाहित होती है।

वेदों तथा अन्य वैदिक वाङ्मय में शिक्षा के विषय में उत्तमोत्तम उपदेश प्राप्त होते हैं। मैक्समूलर ने अपनी पुस्तक 'इण्डिया: ह्वाट कैन इट टीच अस' में एक स्थान पर लिखा है:- 'अगर मैं विश्व भर में से उस देश को ढूँढने के लिए चारों दिशाओं में आँखें उठाकर देखूँ, जिस पर प्रकृति देवी ने अपना सम्पूर्ण वैभव, पराक्रम तथा सौन्दर्य खुले हाथों लुटाकर उसे पृथ्वी का स्वर्ग बना दिया है, तो मेरी अंगुली भारत की ओर उठेगी।'........ सम्भवतः इस

---

१. यजु० ४०.१४.

देश की वैदिक ज्ञानगंगा और प्राकृतिक सौन्दर्य-राशि को देखकर ही मैक्समूलर के हृदय में भारत के प्रति अपार श्रद्धा उमड़ी होगी।

वेदों में संसार की समस्त विद्याओं के बीज सूक्ष्म रूप से देखे जा सकते हैं। वेदों के अध्ययन के लिए जिन वेदाङ्गों के अध्ययन का निर्देश पतञ्जलि ने व्याकरण महाभाष्य में किया है, उन वेदाङ्गों का मूल भी वैदिक संहिताओं में विद्यमान है।

शिक्षाशास्त्र का मूलाधार वेद

छः अङ्गों में से एक अङ्ग है शिक्षा। इसका सम्बन्ध वर्ण और उसके उच्चारण आदि से है। वर्ण दो प्रकार के हैं। एक स्वर और दूसरे व्यञ्जन। शिक्षा ग्रन्थों में इनका विस्तृत विवेचन है। यह धारणा वेद से ली गई है। यथा–

गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्त वाणीः॥ [१]

इस मन्त्र में पद और चतुष्पद् आदि के साथ 'अक्षर' पद का प्रयोग है, जो वर्णों का सूचक है। सात प्रकार के छन्दों वाली मन्त्रात्मक वाणी अक्षर से मापकर बनाई गई है। पुनः अथर्व में कहा गया है कि 'ऋचः पदमात्रया कल्पयन्तः'[२] अर्थात् ऋचाओं के पदों को मात्रा से कल्पित करते हुए।

शिक्षाग्रन्थों में वर्णों के उच्चारण स्थान एवं प्रयत्न आदि के विषय में विचार किया जाता है। वेद के ये मन्त्र इस बात पर प्रकाश डालते हैं--

वनीवानो मम दूतास इन्द्रं स्तोमाश्चरन्ति सुमतीरियानाः।
हृदिस्पृशो मनसा वच्यमाना अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥ [३]

१. अथर्व०९.८.२.
२. अथर्व०९.९.१८.
३. ऋ० १०.४७.७.

सम्यक् सरन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।[१]

इन मन्त्रों में वर्ण आदि० का हृदय से होकर मन द्वारा वाणी आदि का उच्चरित होना बताया गया है। इस प्रकार शिक्षाशास्त्र में इन विषयों को वेद से ही लिया गया है, यह सुतराम् सिद्ध है।

कल्पविज्ञान का मूलाधार वेद

कल्प के चार भेद हैं- गृह्य, श्रौत, शुल्व और धर्म। इन्हीं के आधार पर गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र, शुल्वसूत्र और धर्मसूत्रों की रचना हुई है, जो कल्पनाम से गृहीत किये जाते हैं। मन्त्रों का अर्थ विचारपूर्वक गृह्य, श्रौत कर्मों एवं यज्ञ कर्म वा यज्ञाङ्गों में विनियुक्त करना और वर्णाश्रम के धर्म और पदार्थों के धर्म का विचार करना कल्पविज्ञान का काम है। गृह्य में होने वाले संस्कार आदि कर्म और यज्ञ गृह्यकर्म हैं। अश्वमेध, राजसूय, अग्निहोत्र, वाजपेय, दर्शपौर्णमास आदि श्रौतकर्म हैं। इन यज्ञों में कुण्ड आदि किस प्रकार का बने और उसकी माप आदि क्या और कैसी हो इत्यादि शुल्व कर्म हैं। कौन लोग यज्ञ करें, उनका वर्ण क्या हो, यज्ञ के देवताओं का अस्तित्व ज्ञानात्मक है अथवा सत्तात्मक है, इत्यादि क्रियाधर्म और पदार्थ धर्म का वर्णन, धर्म कर्म है। इन्हीं को लेकर कल्प में चार प्रकार के सूत्रों की रचना है।

इस कल्पविज्ञान का आधार वेद ही है-यह निम्न मन्त्रों से स्पष्ट होता है-

यज्ञेयज्ञे स मर्त्यो देवान्त्सपर्यति।
यः सुम्नैर्दीर्घश्रुत्तम आविवासात्येनान्॥[२]
त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रस्त्वं त्वं लोकस्त्वं प्रजापतिः।
तुभ्यं यज्ञो वितायते तुभ्यं जुह्वति जुह्वतः॥[३]

---

१. ऋ० ४.५८.६.
२. ऋ० १०.९३.२.
३. अथर्व० १७.१.१८.

यो देवानामृत्विजो ये च यज्ञिया देवेभ्यो हव्यं क्रियते भागधेयम्।
इमं यज्ञं सहपत्नीभिरेत्य यावन्तो देवास्तविषा मादयन्ताम्॥ [१]
समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
आस्मिन् हव्या जुहोतन॥ [२]

इन वेद मन्त्रों में निम्न प्रकार की प्रेरणा दी गई है-यज्ञों में विद्वानों का सत्कार करने से मानव पापों से बचता है। यज्ञों में देवताओं के निमित्त आहुति दी जाती है। परमेश्वर की आज्ञा पालनार्थ यज्ञ किये जाते हैं। यज्ञ के देवता दो प्रकार के होते हैं, एक वे जिनके लिए आहुतियाँ दी जाती हैं, दूसरे वे विद्वान् देव हैं, जिन्हें दक्षिणादि से सत्कृत किया जाता है। यज्ञ में ऋत्विज्, यजमान और यजमानपत्नी कार्य करते हैं, समिधा से अग्नि प्रज्वलित करें, घृत से आहुति द्वारा प्रदीप्ततर करें और सामग्री डालें। ये सब यज्ञ की ही प्रेरणा देते हैं।

अथर्ववेद में यज्ञाङ्ग, राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, अर्क, अश्वमेध, अग्न्याधेय, दीक्षा, उत्सन्न यज्ञ, सत्र, अग्निहोत्र, दक्षिणा, इष्ट, पूर्त, एकरात्र, द्विरात्र, चतूरात्र, पञ्चरात्र, षड्रात्र, षोडशी आदि का वर्णन आया है।[३]

इसी प्रकार यजुर्वेद में 'इयं वेदि' आदि मन्त्रों में वेदी और इष्टका आदि का वर्णन भी है। इस प्रकार कल्पविज्ञान का मूलाधार वेद ही है।

व्याकरणशास्त्र का मूलाधार वेद

सर्वप्रथम 'व्या+कृ' का यजुर्वेद में प्रयोग व्याकरण, विवेचन या विश्लेषण अर्थ में प्राप्त होता है-

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।

---

१. अथर्व० १९.१.१२.

२. यजु० ३.१.

३. अथर्व० ११.७.५-१२.

अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाꣳ सत्ये प्रजापतिः॥[१]

इसमें प्रथम व्याकरण प्रजापति अर्थात् परमात्मा को माना गया है। उसने ही सर्वप्रथम सत्य और अनृत का व्याकरण (विवेचन, विश्लेषण) किया। तात्त्विक दृष्टि के द्वारा उसने सत्य में श्रद्धा (ग्राह्यता) और असत्य या अनृत में अश्रद्धा (त्याज्यता या हेयता) रक्खी। यही सत्य और असत्य का विश्लेषण बाद में प्रकृति और प्रत्यय का विश्लेषण होकर व्याकरण बना। यही प्रकृति और प्रत्यय का विश्लेषण प्रकृति (प्राकृतिक तत्त्व, धातु का अंश या स्थूल तत्त्व) और प्रत्यय (ज्ञान, सूक्ष्मतत्त्व) का दार्शनिक विवेचन होकर व्याकरण-दर्शन को जन्म देता है। इसमें शब्द, वाक्य और पद का तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य में सर्वप्रथम इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि व्याकरण का उद्भव वेदों से ही हुआ है। वेदों में सर्वप्रथम व्याकरण के मौलिक तत्त्वों का उल्लेख मिलता है। यथा-

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश॥[२]

महर्षि यास्क ने इस मन्त्र का अर्थ यज्ञपरक किया है, किन्तु पतञ्जलि के महाभाष्य में इसका व्याकरणपरक अर्थ किया गया है। शब्द (व्याकरणरूपी) वृषभ के चार सींग हैं-नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इसके तीन पैर हैं-तीन काल अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य। इसके दो सिर हैं-शब्द के दो स्वरूप नित्य और कार्य । इसके सात हाथ हैं-प्रथमा आदि सात विभक्तियाँ। यह तीन स्थानों पर बँधा हुआ है-उरस् (हृदय), कण्ठ और सिर। यह ही महादेव है और मनुष्यों में व्याप्त है। इस मन्त्र में व्याकरण के आवश्यक अङ्गों का विवेचन हुआ है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से इसमें वर्णोच्चारण के लिए आवश्यक तीनों अङ्गों का उल्लेख

---

१. यजु० १९.७७.

२. ऋ० ४.५८.३.

पाया जाता है। भर्तृहरि ने इस महादेव को शब्द-ब्रह्म या परमेश्वर कहा है। व्याकरण को जानने वाला उस महादेव का सायुज्य प्राप्त करता है।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में वाणी के व्यक्त और अव्यक्त चार रूपों पर प्रकाश डाला गया है-

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥[१]

वाणी के तीन भेद परा, पश्यन्ती और मध्यमा ये सूक्ष्म रूप में रहते हैं। वैखरी नामक वाणी का चतुर्थ भेद प्रयोग में आता है और इसके द्वारा ही लोक-व्यवहार चलता है। परा वाणी ब्रह्म में है। इसकी प्राप्ति निर्विकल्पक समाधि का विषय है।

व्याकरण एवं भाषाविज्ञान के एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग अर्थविज्ञान की ओर भी वेद में विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट किया गया है। अर्थज्ञान के विना मन्त्र-ज्ञान व्यर्थ है। अर्थज्ञान से ही अभीष्ट की सिद्धि होती है।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद्विदुस्त इमे समासते॥[२]

इसी अभिप्राय को पतञ्जलि ने निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया है-

यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥[३]

अर्थज्ञान और उच्चारण शुद्धि पर जितना महत्त्व वेद और व्याकरण ने दिया है, उससे न केवल बाह्य शुद्धि अपितु आन्तरिक शुद्धि भी होती है।

---

१. ऋ० १.१६४.१४५

२. ऋ० १.१६४.३९.

३. महा०आ० १.

भर्तृहरि ने स्पष्ट रूप से वेदों को सभी प्रकार के ज्ञानों और विशेष रूप से व्याकरण का आदि स्रोत माना है। उनका कथन है कि वेद त्रयी बीज रूप में सभी आगमों का आधार है।

न जात्वकर्तृकं किञ्चिदागमं प्रतिपद्यते।
बीजं सर्वाङ्गमोपाये त्रय्ये वादौ व्यवस्थिता॥[१]

वाक्‌तत्त्व का विवेचन ऋग्वेद में, मनस्तत्त्व का यजुर्वेद में और प्राणतत्त्व का सामवेद में है। इस प्रकार तीनों वेद वाक्‌तत्त्व, मनस्तत्त्व और प्राणतत्त्व का विवेचन और विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं।

ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये।[२]

मनस्तत्त्व और वाक्‌तत्त्व के समन्वय से ही वैखरी वाणी का आविर्भाव होता है। मनस्तत्त्व सूक्ष्म तत्त्व है और वाक् उसका स्थूल रूप है। वाक्‌तत्त्व का विस्तृत वर्णन ऋग्वेद के वागाम्भृणी सूक्त में किया गया है।

व्याकरण का मूल आधार शब्द व्युत्पत्ति है। वेदों के अनेक मन्त्रों में शब्दों की व्युत्पत्ति स्पष्ट रूप से दी गई है। इससे स्थान विशेष पर धातु का अर्थ ज्ञात हो जाता है। जैसे–'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः।'[३] यज्ञ शब्द यज् धातु से है।

'केतपूः केतं नः पुनातु।'[४] केतपू=केत+पू

इस प्रकार व्याकरणशास्त्र का आदि स्रोत वेद ही है।

---

१. वाक्य० १.१३४.

२. यजु० ३६.१.

३. ऋ० १.१६४.५०.

४. यजु० ११.७.

निरुक्तशास्त्र का मूलाधार वेद

निरुक्त का मुख्य कार्य है-निर्वचन। शब्द अपने व्युत्पत्ति निमित्त को लेकर किसी अर्थ में प्रयुक्त होता है, इस बात को वेद स्वयं बताता है-

'उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते।'[१]

अर्थात् (मही) शक्तिशाली आप: (जल) सूर्य के ताप से (उदानिषु:) ऊपर को श्वास लेते हैं अर्थात् ऊपर को जाते हैं, अत: उत्+अन् से उदत होता हुआ परोक्षवृत्ति में उदक नाम जल का है।

यहाँ स्पष्ट रूप से बताया गया है कि जल का नाम उदक क्यों है? यहीं से यास्क तथा यास्कपूर्व नैरुक्तों ने निर्वचन-विज्ञान सीखा है।

वेदों में प्रत्यक्षवृत्ति, परोक्षवृत्ति, अतिपरोक्षवृत्ति तीनों प्रकार के शब्दों के निर्वचन मिलते हैं। यथा-

प्रत्यक्षवृत्ति-**'वाय उक्थेभिर्जरन्ते त्वामच्छा जरितार:।'**[२]

'जरिता गरिता।'[३]

'जरिता' शब्द 'जरन्ते' जॄ धातु से बनता है, यास्क इसका अर्थ 'गरिता' करते हैं।

'इन्द्रमर्केभिरर्किण:।'[४]

'अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति।'[५]

अर्की शब्द अर्क से बनता है, और अर्क, अर्क धातु से बनता है।

---

१. अथर्व० ३.१३.४.

२. ऋ० १.२.२.

३. निरु० १.७.

४. ऋ० १.७.१.

५. निरु. ५.४.

परोक्षवृत्ति-**'मंहते मघम्।'**[१] 'मघ' शब्द को 'मंह्' धातु से बनाया गया है।

'पिपर्ति पपुरिः।'[२] 'पपुरिः' शब्द 'पिपर्ति' से बना है।

'जरितुः वर्धते गिरः।'[३] 'गिरः' शब्द 'जृ' धातु से बना है।

ये शब्द निरुक्त में इस प्रकार व्याख्यात हैं-

'मघ इति धननामधेयम्। मंहतेर्दानकर्मणः।'[४]

पपुरि-**'पिपर्ति पपुरिरिति। पृणातिनिगमौ वा प्रीणातिनिगमौ वा।'**[५]

अतिपरोक्षवृत्ति-**'धान्यमसि धिनुहि देवान्।'** यहाँ पर 'धान्य' शब्द अतिपरोक्षवृत्ति है।

निरुक्त में कहा गया है कि-**'महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।'**[६] इसी बात को वेद के प्रसिद्ध मन्त्र में बताया गया है-

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥'[७]

इसी प्रकार निरुक्त प्रतिपादित भक्ति-साहचर्य का वर्णन यजुर्वेद में आता है।

ज्योतिष् का मूलाधार वेद

ज्योतिर्विज्ञान का मूल आधार ज्योतिर्मय पदार्थ हैं। ऋग्वेद का प्रारम्भ ही परम ज्योतिर्मय प्रधान तत्त्व अग्नि से होता है। उसी की स्तुति, उसी की उपासना, उसी के

---

१. ऋ० १.११.१.
२. ऋ० १.४६.३.
३. ऋ० ९.४०.५.
४. निरु० १.७.
५. निरु० ५.२४.
६. निरु० ७.४.
७. ऋ० १.१६४.४६.

अनुसन्धान, उसी के विशिष्ट एवं व्यापक गुणों का दर्शन तथा उपयोग प्रकट करने के लिए सर्वप्रथम मन्त्र में '**अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥**'[१] के रूप में परमात्मा ने मानव हित के लिए प्रदान किया। विश्व में नक्षत्र, ग्रह, सूर्य, चन्द्रमादि के ज्योतिर्विज्ञान के प्रवर्त्तक भगवान् वेद ही हैं। वेद से प्रेरणा लेकर सम्पूर्ण ज्योतिष् ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। पुरुष सूक्त कहता है-

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन्॥[२]

कालभावना का सङ्केत भी हमें वेदों से प्राप्त होता है-

देवानां पूर्व्ये युगे सतः सदजायत।[३]
देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत॥[४]

यहाँ पर युग की चर्चा की गई है। निम्न ब्राह्मण वचन में कहा गया है कि सूर्य न कभी अस्त होता है और न कभी उदय। इससे विदित होता है कि वैदिक ऋषियों को रात-दिन का स्पष्ट कारण ज्ञात था-

न वा अयमुदेति न विम्लोचति सकृद् दिवा हैवास्मै भवति स वा एष न कदाचन अस्तमेति नोदेति॥

इसी प्रकार '**सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा॥**'[५] यहाँ पर सात किरणों का उल्लेख है जो सूर्य में स्थित हैं। पृथ्वी, चन्द्रमा, नक्षत्र, दिवस, ग्रहण आदि का स्पष्ट वर्णन अनेक ऋचाओं में प्राप्त होता है।

---

१. ऋ० १.१.१.
२. यजु० ३१.
३. ऋ० १०.७२.२.
४. ऋ० १०.७२.३.
५. ऋ० १.१६४.२.

छन्द:शास्त्र का मूल भी वेद

छन्द:शास्त्र का मूल भी वेद ही है। गायत्र्यादि वैदिक छन्दों से ही आगे चलकर शिखरिणी आदि लौकिक छन्दों का विस्तार हुआ। यह छन्दोज्ञान वेदार्थ ज्ञान में परम सहायक है।

इस प्रकार वेदाङ्गों का मूलाधार स्वयं वेद ही है। इसके अतिरिक्त अध्यात्म विद्या, विज्ञान, गणित, राजनीति, अर्थशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, मनोविज्ञान, संगीत, साहित्य, कला, वाणिज्य आदि विविध विधाओं का मूल भी वैदिक संहितायें हैं।

वेद केवल अक्षर ज्ञान की बात नहीं कहता, अपितु वह व्यवहार कुशल, चरित्रवान्, देशभक्त, बहु आयामी व्यक्तित्व वाला आदर्श मानव बनाता है। वेदों में ऐसे अनेक मन्त्र हैं, जिनमें अध्यापक, शिष्य के गुणों, कर्त्तव्यों का सुन्दर निर्देश है। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य सूक्त में आचार्य को मृत्यु, वरुण, सोम, औषधि और पय: कहा गया है-

आचार्यो मृत्युर्वरुण: सोम ओषधय: पय:।
जीमूता आसन् सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम्॥[१]

इस मन्त्र से शिक्षक के गुणों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। शिक्षक को वाचस्पति, ब्रह्मणस्पति, बृहस्पति, वसोष्पति आदि विशेषणों से भी वेद में स्मरण किया गया है, जो उसके ज्ञान-गाम्भीर्य, वाक्पटुत्व की ओर सङ्केत करते हैं।

गुरु-शिष्य के सम्बन्ध को निरूपित करते हुए वेदमाता कहती है-

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्त:।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवा:॥[२]

शिक्षक उपनयन संस्कार करके शिष्य को अपने गर्भ में धारण करता है। उसे तीन रात्रि अपने उदर में रखता है। फिर जब शिष्य जन्म लेता है, तब उसके दर्शन के लिए देव

१. अथर्व० ११.५.१४.

२. अथर्व० ११.५.३.

एकत्र होते हैं। इस वर्णन से गुरु-शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। वैदिक शिक्षा में ब्रह्मचर्य, तप, नैतिक मूल्य आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इस प्रकार उद्घोषणापूर्वक कहा जा सकता है कि वैदिक शिक्षा आज भटकती हुई मानवता को कल्याण-पथ की ओर अग्रसर कर सकती है।

डॉ० महावीर अग्रवाल
प्रोफेसर संस्कृत-विभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार-२४९४०४

वेद प्रतिपादित शिक्षा का स्वरूप और महर्षि दयानन्द

डॉ० ज्ञानप्रकाश शास्त्री

हम मानव जाति के इतिहास के उस मोड़ पर खड़े हुए हैं, जहाँ जीवन जटिलता का पर्याय बन चुका है। उदारता और सरलता आदि मानवीय गुण अपनी गरिमा खो चुके हैं। मानव के इतिहास के अन्य किसी भी समय में उतने लोगों के सिर पर उतना बड़ा बोझ नहीं था, जिन यन्त्रणापूर्ण अत्याचारों और मनोवेदनाओं को हम सह रहे हैं, वे वास्तव में असहनीय हैं। हम ऐसे संसार में जीने को बाध्य हैं, जहाँ विषाद और त्रास की घनीभूत छाया एवं अभावों की काली परछाईं हमारा पीछा कर रही है। परम्परायें, संयम, आचरण और स्थापित विधि-विधान आश्चर्यजनक रूप से शिथिल हो गये हैं। जो विचार कल तक सामाजिक श्रेष्ठता के मापदण्ड थे और न्याय की आधार भूमि माने जाते थे तथा जो गत हजारों वर्षों से भारतीय समाज की आचार-संहिता का निर्देशन एवं अनुशासन करते थे, आज बह गये हैं और जो थोड़े-बहुत शेष रहे हैं, वे सांस्कृतिक आक्रमण के सामने समर्पण करते चले जा रहे हैं। हमारा समाज भ्रान्तियों. कटुताओं और सङ्घर्षों से विदीर्ण होगया है। सम्पूर्ण वातावरण सन्देह और अनिश्चित भविष्य के भय से अभिभूत है। वर्तमान में जीवन और समाज का आधार समझा जाने वाला अर्थ विश्वव्यापी सामन्तवादी मनोवृत्ति का शिकार होने के कगार पर है। ऐसे समय में सामाजिक संरचना का सूत्र हाथ से फिसलता हुआ दिखलायी पड़े तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

परिवर्तन प्रकृति का नियम है और परिवर्तन के कारण ही वह प्रकृति कहलाती है। परन्तु वर्तमान युग में परिवर्तन जितनी तीव्रता के साथ हो रहे हैं, उनकी गति अवश्य चौंकाने वाली है। 'चारों ओर सब जगह टूटने-फूटने और सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संस्थाओं में परिवर्तनों की, प्रमुख विश्वासों और विचारों में, मानव मन की आधारभूत श्रेणियों

में, परिवर्तन की आवाज सुनायी पड़ रही है। बुद्धिमान्, अनुभूतिशील और उद्यमी मनुष्यों का विश्वास है कि राजनीति, अर्थशास्त्र और उद्योग से सम्बद्ध संस्थाओं और वर्तमान प्रबन्धों में कहीं न कहीं कुछ बड़ा दोष है और यदि हमें मनुष्यता को बचाना है तो हमें इन प्रबन्धों और संस्थाओं से छुटकारा पाना होगा।'[१]

हम मनुष्य की समस्त समस्याओं का समाधान शिक्षा के माध्यम से कर सकते हैं। ज्ञान या शिक्षा एक ऐसा मार्ग है, जो हमें सत्यासत्य के साथ हिताहित का निर्णय करने की कसौटी प्रदान करता है। यह ज्ञान ही हमें असत् से सत् की ओर, तमस् से ज्योति की ओर तथा मृत्य से अमरत्व की ओर ले जाने वाला है।[२] यही महान् बनने की आधारशिला है[३] और यही मनुष्य की विपत्तियों से रक्षा करने की ढाल है[४] और यही कल्याण करता हुआ आगे-आगे चलता है। समस्त संसार का स्वामित्व प्रदान करने वाला, यदि कोई है, तो वह ज्ञान है।[५] द्युलोक और पृथिवीलोक उस बुद्धि के दो कोष हैं।[६] इनके सदुपयोग पर ही मनुष्य की समस्त समस्याओं का समाधान निर्भर है। जिसमें जितनी अधिक शक्ति निहित होती है, वह उतना भयावह भी होता है। ज्ञान का उपयोग, जहाँ प्राणिमात्र का कल्याण कर सकता है, वहीं वह इस सृष्टि का विनाश करने में भी सक्षम है। इसलिये ज्ञान या शिक्षा का स्वरूप और उसकी आधारभूमि ऐसी होनी चाहिये, जिसमें से कल्याण के अंकुर फूट सकें। आज की शिक्षा व्यवस्था और उससे उद्भूत होने वाला विज्ञान परिणाम की दृष्टि से मङ्गलकारी है, यह बात उसकी स्थापना करने वाले विशेषज्ञ भी कहने की स्थिति में नहीं हैं। सामाजिक प्राणी होने के

१. डॉ. राधाकृष्णन्, धर्म और समाज, पृ०,०७.राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, १९७२.

२. बृहदारण्यको०,१.३.२८. 'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमयेति।' यजु० ४०.१४. 'विद्ययाऽमृतमश्नुते।'

३. अथर्व० ३.३०.५. 'ज्यायस्वतश्चित्तिनो मा वि यौष्ट।'

४. अथर्व० ७.१००.१. 'ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे।'

५. अथर्व० २०.१३७.५. 'वाचस्पतिः विश्वस्येशान ओजसा।'

६. अथर्व० ११.५.१०. 'गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य।'

नाते मनुष्य अन्य प्राणियों की तरह स्वार्थी बनकर नहीं चल सकता। ऐसा करने में जहाँ अन्य प्राणियों का जीवन सङ्कट में पड़ सकता है, वहाँ उसका स्वयं का अस्तित्व भी सुरक्षित नहीं रह सकता। इसलिये शिक्षा के स्वरूप की विवेचना प्रासङ्गिक है, क्योंकि शिक्षा प्रसार के साथ-साथ मनुष्य की समस्यायें भी बढ़ती चली जा रही हैं। जो शिक्षा समस्याओं के शमन के लिये थी, आखिर ऐसा क्या होगया कि वह समस्याओं की जनक होगयी।

भारतीय पुनर्जागरण के पुरोधा महर्षि दयानन्द सरस्वती ने नई पीढ़ी के विचारों को राष्ट्र निर्माण एवं मानव कल्याण की ओर अभिमुख करने के लिये 'शिक्षा-पद्धति का स्वरूप' विस्तार के साथ अपने अमर ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश' में प्रतिपादित किया है। महर्षि दयानन्द सरस्वती का उक्त दृष्टिकोण उस समय और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है, जब उनके समकालीन अथवा किञ्चित् पूर्वकालीन धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलन के प्रवर्तक राजा राममोहन राय अंग्रेजी शिक्षा को प्रारम्भ कराने के लिये विशिष्ट व्यक्तियों के हस्ताक्षर से युक्त एक आवेदन लेकर अंग्रेज महाप्रभुओं के समक्ष उपस्थित हुए हों। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रथम का चिन्तन भारतीय परम्परा से अनुप्राणित है, जबकि द्वितीय का चिन्तन विदेशी संस्कृतिजन्य जडता से उद्भूत हुआ है। उपर्युक्त दोनों मनीषियों की विचारधारा में भिन्नता का कारण स्पष्ट है। जहाँ राजा राममोहन राय विदेशी धर्म और संस्कृति के आक्रमण से हतप्रभ हैं, वहीं महर्षि दयानन्द सरस्वती विदेशी धर्म और संस्कृति को पूरी तरह न केवल नकारते हैं, अपितु उसको भी कटघरे में खड़ा कर देते हैं, जहाँ राजा राममोहन राय को पश्चिम की ओर अनिमेष दृष्टि से देखने के अतिरिक्त और कोई विकल्प दिखायी नहीं देता, वहीं महर्षि दयानन्द सरस्वती अपना मुख पूर्व की ओर रखते हैं। प्राची ही वह दिशा है, जहाँ विद्या का सूर्य उदित होता है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती की दृष्टि में शिक्षा का महत्त्व

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थों में शिक्षा को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति, समाज, राज्य और समस्त विश्व की उन्नति और सुख-समृद्धि

तभी सम्भव है, जब स्त्री-पुरुष सुशिक्षित हों। सुशिक्षित होने पर ही उनको उचित-अनुचित तथा ज्ञान-विज्ञान का बोध सम्भव है और तभी वे सम्पूर्ण प्राणिमात्र के कल्याण के लिये उसका उपयोग कर सकते हैं। महर्षि की दृष्टि में सुवर्णादि आभूषणों को धारण करने से केवल देहाभिमान, विषयासक्ति, चोर आदि का भय ओर मृत्यु भी सम्भव है, अतः सन्तान को उत्तम विद्या, शिक्षा, गुण, कर्म और स्वभाव को धारण कराना माता, पिता, आचार्य और सम्बन्धियों का मुख्य कर्म है।[१] आगे वे कहते हैं कि जो लोग विद्या-विलास में लगे रहते हैं, जिनका स्वभाव सुन्दर है, सत्यवादी हैं, अभिमान और अपवित्रता से रहित हैं, दूसरो के अज्ञान का नाश तथा वेदविहित कर्मो के द्वारा लोकमङ्गल करने वाले हैं, ऐसे नर-नारी धन्य हैं।[२]

शिक्षा का उद्देश्य

वैदिक कालीन शिक्षा का मात्र यह उद्देश्य नहीं था कि मनुष्य को आजीविका के योग्य या अन्य शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सक्षम बना दिया जाये, अपितु आत्मा में निहित शक्तियों का विकास करते हुए प्रथम अभ्युदय की प्राप्ति और तदनन्तर निःश्रेयस् तक पहुँचाना शिक्षा का उद्देश्य था।

शिक्षा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए महर्षि कहते हैं कि वही शिक्षा है, जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मा, जितेन्द्रियतादि की वृद्धि हो और अविद्यादि दोष छूटें।[३] महर्षि विद्या को यथार्थ का दर्शन कराने वाली और भ्रम से रहित मानते हैं।[४] अथर्ववेद में ब्रह्मचारी को दो समिधाओं वाला बताया गया है।[५] प्रथम समिधा 'भोग' की प्रतीक है और द्वितीय समिधा

---

१. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,६५.

२. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,६५-६६.

३. सत्यार्थप्रकाश, स्वमन्तव्य, पृ०,९५६.

४. ऋषि दयानन्द सरस्वती के शास्त्रार्थ और प्रवचन, पूना प्रवचन सं०,०३. पृ०,२८१.सं० भवानीलाल भारतीय, युधिष्ठिर मीमांसक, श्रीमती सावित्री देवी, बागड़िया ट्रस्ट, कलकत्ता, सन् १९८८.

५. अथर्व० ११.५.४. 'इयं समित् पृथिवि द्यौर्द्वितीयोन्तरिक्षं समिधा पृणाति।'

'ज्ञान' की। ज्ञान और भोग इन दोनों समिधाओं के द्वारा अन्तरिक्ष स्थानीय हृदय की सन्तुष्टि और पूर्णता प्राप्त करना ब्रह्मचारी का उद्देश्य है। कहने का आशय यह है कि केवल भोग या केवल ज्ञान से मनुष्य जीवन सफल नहीं हो सकता।[१] इसलिये भारतीय वैदिक शिक्षा जीवन के दोनों रूपों में सामञ्जस्य स्थापित करके मनुष्य को पूर्णता तक पहुँचाती है।

शिक्षा का प्रारम्भ

महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुसार जब बालक और बालिका आठ वर्ष के हों, तभी उन्हें अध्ययन करने हेतु पाठशाला में भेज देना चाहिये।[२] इस विषय में महर्षि का स्पष्ट अभिमत है कि बालिकाओं और बालकों को पृथक्-पृथक् विद्यालय में पढ़ाना चाहिये अर्थात् महर्षि की दृष्टि में सहशिक्षा उचित नहीं है।[३] वे यहाँ तक कहते हैं कि कन्याओं की पाठशाला में पाँच वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में पाँच वर्ष की लड़की का प्रवेश पूर्ण वर्जित होना चाहिये। जब तक बालक और बालिका शिक्षा प्राप्त करें, तब तक एक-दूसरे का दर्शन, स्पर्शन, एकान्त सेवन, भाषण, विषय कथा, परस्पर क्रीडा, विषय का ध्यान और सङ्ग- इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहना चाहिये। इसलिये वे सुरक्षात्मक उपाय के रूप में बालक और बालिकाओं की पाठशाला कम से कम पाँच किलोमीटर दूर रखना आवश्यक समझते हैं।[४] इस प्रकार महर्षि ने बालक और बालिकाओं को भिन्न लिङ्ग के व्यक्ति के सम्पर्क में आने का पूर्ण निषेध किया है।

लेकिन प्राचीन (वैदिक) काल में सहशिक्षा पूर्णतया निषिद्ध थी, को पूर्णरूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता है। भवभूति के नाटक 'मालती माधव' में नारी शिष्या

---

१. यजु० ४०.१०-१४.

२. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,६६.

३. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,६६.

४. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,६६.

सुविधा और शिक्षा की दृष्टि से सभी शिष्य समान होने चाहिये। कठोपनिषद् में नचिकेता को यम के घर भेजने का भी यही उद्देश्य प्रतीत होता है।[१] गुरु अर्थात् यम=संयम की मूर्ति के पास पहुँचने के बाद शिष्य अपने को माता-पिता की पृष्ठभूमि से अलग कर लेता है, ठीक उसी प्रकार जैसे यम (मृत्यु) के घर पहुँचे हुए व्यक्ति के गत जीवन के सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं। अथर्ववेद में आचार्य का प्रथम नामकरण 'मृत्यु' किया है।[२] इससे भी उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि हो जाती है तथा कठोपनिषद् में गुरु को 'यम' नामकरण दिये जाने का आधार भी स्पष्ट हो जाता है।

उपर्युक्त समानता की भावना बनाये रखने के लिये महर्षि दयानन्द सरस्वती यह आवश्यक समझते हैं कि अध्ययन काल में माता-पिता अपनी सन्तानों से या सन्तान अपने माता-पिता से न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्र-व्यवहार कर सकें, ऐसी व्यवस्था गुरुकुलों में की जानी चाहिये।[३] समानता की भावना बनाये रखने के लिये यह आवश्यक भी है। यदि छात्र का अपने परिवार के साथ सम्बन्ध बना रहता है तो एक तरफ जहाँ उसके अध्ययन में विघ्न पड़ेगा, घर की समस्याओं को जानकर वह दु:खी होगा, वहीं लौकिक सम्बन्धों की भेदभाव की छाया गुरुकुल के समतावादी जीवन पर पड़ेगी, पाठशाला का वातावरण कलुषित और वह हीनता या श्रेष्ठता की भावना से पीड़ित हो जायेगा। इसलिये उचित है कि छात्र सभी प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होकर केवल विद्याध्ययन की चिन्ता करें। ब्रह्मचर्य काल आगे आने वाले जीवन की आधारशिला होता है, यदि शैशव काल में देश के भावी नागरिक को समता का पाठ पढ़ा दिया जाये, तो 'सामाजिक विषमता' की समस्या के उत्पन्न होने का भय नहीं है। यह समता का मन्त्र समाज की अनेक विषम दुश्चिन्ताओं का शमन करने का एक कारगर उपाय है।

---

१. कठो० प्रथम वल्ली।

२. अथर्व० ११.५.१४. 'आचार्यो मृत्युर्वरुण: सोम ओषधय: पय:।'

३. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०६७.

छात्र-जीवन

महर्षि दयानन्द सरस्वती छात्र को ब्रह्मचर्य और तपस्यामय जीवन व्यतीत करते हुए देखना चाहते हैं। महर्षि ने ब्रह्मचर्य पालन पर बहुत बल दिया है। इस व्रत का पालन करने वाले को मद्य, मांस, गन्ध आदि उत्तेजक, तामसिक पदार्थ एवं प्रसाधन सामग्री का उपभोग नहीं करना चाहिये। इसके साथ-साथ वासना को उत्तेजित करने वाले विषयों का सेवन, काम, क्रोध, लोभ आदि दुर्गुणों, द्यूत, निन्दा, अन्य को हानि एवं सभी प्रकार के कुकर्मों का पूर्णरूप से त्याग कर देना चाहिये। ब्रह्मचारी को ऐसा कार्य कदापि नहीं करना चाहिये, जिससे उसका ब्रह्मचर्य खण्डित हो।[१]

इसके अतिरिक्त महर्षि दयानन्द सरस्वती यम और नियमों का पालन करना छात्र के लिये आवश्यक मानते हैं।[२] योगदर्शन में प्रतिपादित अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह[३]- इन पाँच यमों तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान[४]- इन पाँच नियमों का यथावत् पालन करने वाला विद्यार्थी उन्नति को प्राप्त करता है। उनका स्पष्ट अभिमत है कि 'यम' को छोड़कर केवल नियमों का पालन करने वाला छात्र अधोगति को प्राप्त करता है।[५] कहने का आशय यह है कि 'यम' छात्र जीवन की आधारशिला है। 'यम' को आचरण में लाये विना, 'नियम' का सेवन करने से, विद्यार्थी मनुष्य जीवन को पूर्णता दिलाने वाली विद्या को प्राप्त नहीं कर सकता। अथर्ववेद में कहा गया है कि ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व विद्यार्थी को ब्रह्मचारी बनना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य काल में श्रम और तप करने से उच्चता प्राप्त होती

---

१. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,८७.

२. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,८२-८३.

३. योगदर्शन,२.३०. 'तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।'

४. योगदर्शन,२.३२. 'शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।'

५. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,८३.

है। उस ब्रह्मचारी से ब्रह्म सम्बन्धी श्रेष्ठ ज्ञान प्रसिद्ध होता है।[१] एक अन्य मन्त्र में ब्रह्मचारी को ज्ञानामृत के केन्द्र आचार्य में गर्भरूप में रहने वाला बताया गया है और कहा है कि वह ब्रह्मचारी अपने ज्ञान और सत्कर्म से प्रजा, राजा और परमात्मा के गुणधर्म को प्रकट करता हुआ इन्द्र बनकर असुरों का नाश करता है।[२]

छात्र-जीवन में प्रवेश करते समय बालक को मेखला धारण करने का विधान है। मेखला कमर में बाँधी जाने वाली एक रस्सी का नाम है और इसका छात्र जीवन में प्रतीकात्मक महत्त्व है। उपनयन-संस्कार के साथ अध्ययन प्रारम्भ करने वाले छात्र को युद्ध के लिये प्रस्थान करने वाला सैनिक के समान कमर कस लेनी चाहिये। कटिबन्ध=(मेखला) कटिबद्ध अर्थ का परिचायक है। अथर्ववेद ब्रह्मचारी को समिधा, मेखला, श्रम और तप से लोकों का पालन करने वाला बतलाता है।[३] ज्ञानरूप समिधा प्राप्त करने के लिये छात्र को निम्न त्रिविध उपायों को अपनाना चाहिये:- प्रथम-मेखला=सन्नद्ध रहना अर्थात् आलस्य और प्रमाद का परित्याग कर देना चाहिये, द्वितीय स्थान श्रम का है। विद्या की प्राप्ति और ब्रह्मचर्य की रक्षा तभी सम्भव है, जब विद्यार्थी निरन्तर परिश्रम करे। तृतीय स्थान पर तप है अर्थात् विद्या की पूर्णता का नाम तप है। निघण्टु में तप धातु ज्वलतिकर्मा में पठित है।[४] इसके अतिरिक्त ऐतरेय-ब्राह्मण के अनुसार तप में ही ब्रह्म प्रतिष्ठित है।[५] इस प्रकार ज्ञानरूप समिधा के साथ प्रारम्भ हुआ यज्ञ, विद्या रूप तप के साथ पूर्णता को प्राप्त करता है। विद्या अधिगत कर लेने पर उस ब्रह्मचारी का मुख एक अलौकिक तेज से अभिमण्डित हो जाता है।

---

१. अथर्व० ११.५.५.

२. अथर्व० ११.५.७.

३. अथर्व० ११.५.४. 'ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति।'

४. निघ०,१.१७.

५. ऐ०ब्रा०,३.६. 'ब्रह्म तपसि (प्रतिष्ठितम्)।'

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अथर्ववेद के उक्त ब्रह्मचर्य-सूक्त के अनुरूप विद्यार्थियों में निम्न सात विद्या विरोधी दोष गिनाये हैं:-१. आलस्य, २. मद और मोह, ३. चपलता, ४. व्यर्थ की इधर-उधर की बात करना, ५. जडता, ६. अभिमान, ७. लोभ।[१] आगे वे कहते हैं कि सुखार्थी विद्या नहीं प्राप्त कर सकता तथा विद्यार्थी को सुख नहीं मिल सकता, इसलिये सुख चाहने वाले को विद्या और विद्या चाहने वाले को सुख का परित्याग कर देना चाहिये।[२] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि छात्र-जीवन का लक्ष्य ज्ञान है और उसका साधन उत्साह (मेखला), श्रम और तप है। इसी वैदिक सूत्र की व्याख्या विद्वानों ने अनेक रूपों में की है।

अनिवार्य शिक्षा

महर्षि दयानन्द सरस्वती का शिक्षा-दर्शन शिक्षा को जीवन का अनिवार्य अङ्ग मानने के पक्ष में है। उनकी दृष्टि में माता-पिता तथा आचार्य तीनों ही शिक्षक होते हैं।[३] कहने का आशय यह है कि उक्त तीनों शिक्षित होने पर ही बालक विद्वान् बनता है। केवल आचार्य के पढ़ाने से मनुष्य विद्वान् नहीं बनता, क्योंकि आचार्य के पास विद्यार्थी पर्याप्त बड़ा होने के पश्चात् ही पहुँचता है। शिक्षा के भव्य भवन की आधारशिला रखने वाली माता है और वह इसका प्रारम्भ गर्भाधान से ही कर सकती है।[४] इसके अतिरिक्त माता की अध्ययन कराने की शैली, पिता व आचार्य की अपेक्षा बहुत मधुर होती है, उसमें दण्ड का भय न होकर ममता का रस अनुस्यूत होता है, अतः, उसके द्वारा पढ़ाया गया नीरस विषय भी सरस हो जाता है।

---

१. व्यवहारभानुः।

२. व्यवहारभानुः।

३. सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय समु०, पृ०,५२.

४. सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय समु०, पृ०,५२.

जब वह सन्तान पाँच वर्ष की हो जाये, तब पिता को आचार्य के दायित्व का निर्वाह करना चाहिये।[१] पाँच वर्ष की अवस्था से पिता को यह दायित्व इसलिये सौंपा गया है कि इस अवस्था में बच्चे को शिक्षा के साथ अनुशासन की भी आवश्यकता होती है, पर वह अनुशासन भी अतिकठोर नहीं होना चाहिये और इस अपेक्षा को मात्र पिता पूरा कर सकता है, क्योंकि माता में स्नेह की अधिकता होती है और आचार्य में अनुशासन की, जबकि सन्तान के उचित विकास के लिये स्नेह और अनुशासन- दोनों की आवश्यकता होती है।

माता-पिता विद्वान्, सुशिक्षित और धार्मिक तभी हो सकते हैं, जब सबके लिये शिक्षा अनिवार्य हो। केवल आचार्य वर्ग पर शिक्षा का दायित्व सौम्प देने से आज के समाज का बहुसङ्ख्य अशिक्षित और अन्ध-विश्वास से ग्रस्त है। शिक्षा की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हुए महर्षि कहते हैं कि 'इसमें राज नियम व जाति नियम होना चाहिये कि पाँचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवे, जो न भेजे, वह दण्डनीय हो।[२] आगे पुनः वे लिखते हैं कि 'राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रखकर विद्वान् कराना। जो कोई इस आज्ञा को न माने तो उसके माता-पिता को दण्ड देना अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का और लड़की, किसी के घर में न रहने पावें, किन्तु आचार्य-कुल में रहें। जब तक समावर्तन का समय न आ जावे, तब तक विवाह न होने पावे।[३] इस प्रकार महर्षि की दृष्टि में सभी के लिये शिक्षा अनिवार्य है। शिक्षा में न लिङ्ग के आधार पर कोई भेद है और न जन्म के आधार पर। महर्षि का केवल यही निर्देश इस देश की अनेकों समस्याओं का समाधान कर सकता है।

---

१. सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय समु०, पृ०,५५.
२. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,६७.
३. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,१२९.

आचार्य का स्वरूप

महर्षि जहाँ शिक्षा को जीवन का अनिवार्य अङ्ग मानते हैं, ठीक उसी प्रकार वे शिक्षक की योग्यता तथा उसके आचरण के प्रति भी बहुत सतर्क और सावधान हैं। उनका स्पष्ट अभिमत है कि 'जो अध्यापक पुरुष वा स्त्री दुराचारी हों, उनसे शिक्षा न दिलावें। किन्तु जो पूर्ण विद्यायुक्त धार्मिक हों, वे पढ़ाने और शिक्षा देने के योग्य हैं।[१] एक अन्य स्थान पर आचार्य का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि जो विद्यार्थी को प्रेमपूर्वक, तन, मन, धन से प्रयत्न करते हुए धर्मयुक्त व्यवहार की शिक्षा के साथ-साथ विद्या देता है, वह आचार्य है।[२] उपर्युक्त पङ्क्तियों में महर्षि ने आचार्य को सदाचारी विद्वान्, धार्मिक, प्रेमपूर्वक पढ़ाने वाला तथा छात्रहित में अपना सब कुछ समर्पित कर देने वाला बताया है। आचार्य के एक विशिष्ट गुण का उल्लेख करते हुए महर्षि कहते हैं कि 'आचार्य समाहित होकर ऐसी रीति से विद्या और सुशिक्षा (का उपदेश) करें कि जिससे उसके आत्मा के भीतर सुनिश्चित अर्थ (की प्रतिष्ठा) होकर उत्साह ही बढ़ता जाये। ऐसी चेष्टा व कर्म कभी न करें कि जिसको देख व करके विद्यार्थी अधर्मयुक्त हो जायें। दृष्टान्त, प्रयोग, यन्त्र, कला-कौशल विचार आदि से विद्यार्थियों की आत्मा में पदार्थ इस प्रकार साक्षात् करायें कि एक के जानने से हजारों पदार्थों का बोध यथावत् होता चला जाये।[३] आचार्य की शिक्षा देने की प्रक्रिया इतनी अधिक सुगम और प्रयोगात्मक होनी चाहिये कि विद्यार्थी को एक पदार्थ के ज्ञान से उस जैसे अन्य अनेक पदार्थों का बोध हो जाये। जब तक शिक्षक में उक्त गुण नहीं हैं अर्थात् उसकी अध्ययन की शैली सुबोध नहीं है, तब तक कोई भी व्यक्ति विद्वान्, धार्मिक, सदाचारी होकर भी शिक्षण या आचार्य होने योग्य नहीं है। इसलिये आचार्य होने के लिये महर्षि की दृष्टि में मात्र विद्वान्,

---

१. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,६६.

२. व्यवहारभानुः, पृ०,२१३.

३. व्यवहारभानुः, पृ०,२१६.

सदाचारी इत्यादि गुणों का होना ही अपेक्षित नहीं है, विद्या देने की चाह के साथ-साथ उसे विद्या-दान की कला में भी निपुण होना चाहिये।

अथर्ववेद में आचार्य को मृत्यु, वरुण, सोम, ओषधि, पयस्- नाम से अभिहित किया गया है।[१] इसका कारण यह है कि प्रत्येक प्राणी का प्रथम जन्म माता-पिता से होता है और माता-पिता से उत्पन्न होने वाला प्रत्येक प्राणी 'पशु' है, चाहे वह द्विपाद या फिर चतुष्पाद।[२] इस पशु-शरीर की मृत्यु आचार्य के शरण में जाते ही हो जाती है और वह आचार्य के गर्भ में निश्चित समय तक रहने के बाद जब जन्म लेता है, तब वह 'द्विज' कहलाता है। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र का मत है कि आचार्य विद्या से उस ब्रह्मचारी को उत्पन्न करता है। वही उसका श्रेष्ठ जन्म है।[३] पशु शब्द का अभिप्राय यह है:-निसर्ग बुद्धि से काम लेना।' बालक भी ऐसा ही होता है और जब वह आचार्य के सम्पर्क से मननशील हो जाता है,[४] कर्म करता हुआ भी कर्म में लिप्त नहीं होता,[५] तभी वह मनुष्य, नर या द्विज कहलाने का अधिकारी है। शरीर रूपान्तरण की सामर्थ्य मात्र मृत्यु (परमात्मा) में निहित है, वही पूर्ण शरीर छुड़वाकर नवीन शरीर धारण करने का अवसर प्रदान करती है। जब इस काम को आचार्य करता है, तब वह भी 'मृत्यु' कहलाता है।

कठोपनिषद् में आचार्य को 'मृत्यु' और 'यम' कहा गया है और अध्ययन के लिये जाने वाला नचिकेता तीन रात्रियों पर्यन्त यम के घर में निवास करता है।[६] इस आख्यान से भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। आचार्य के आश्रम में भेजा गया बालक मानो मृत्यु के पास भेज दिया गया हो, क्योंकि वहाँ जाकर उसका प्रत्येक दृष्टि से कायाकल्प हो जाता है। प्रथम

---

१. अथर्व० ११.५ १४. ' आचार्यो मृत्युर्वरुण: सोम ओषधय: पय:।'

२. अथर्व० १४.२.२५. 'वितिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थात् नानारूपा: पशवो जायमाना:।'

३. आपस्तम्बधर्मसूत्र,१.१.१५-१६. 'स हि विद्यातस्तं जनयति। तच्छ्रेष्ठं जन्म।'

४. निरु० ३.७. 'मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति।'

५. यजु० ४०.२. 'न कर्म लिप्यते नरे।'

६. कठो० १.४-९.

माता-पिता को अपने ममत्व का गला घोंटना पड़ता है, द्वितीय उस बालक को माता-पिता के मोह एवं सुविधापूर्ण जीवन को त्यागकर त्याग, तपस्या और संयम का जीवन जीना पड़ता है। तृतीय-संयम के कठोर अनुशासन में रहते हुए, इस प्रकार अपने जीवन को ढालना होता है, जिसमें समाज और राष्ट्रहित में वह अपने पूर्ण स्वत्व की आहुति दे सके। वह फिर मात्र परिवार या स्वयं के लिये नहीं जीता, उसका जीवन तो इन सीमाओं से परे समाज, राष्ट्र या प्राणिमात्र के लिये होता है। इसलिये आचार्य के पास सन्तान को भेजने का अर्थ परिवार या स्वयं के लिये उसकी मृत्यु है।

आचार्य के पास वह शिष्य तीन रात्रियों तक निवास करता है,[१] इसका यह अभिप्राय है कि जब तक उसके तीनों (प्रकृति, जीव, ईश्वर विषयक) प्रकार के अज्ञान दूर नहीं होते, तब तक वह गुरु के पास रहता है। विद्या का अभिप्राय भी तो अमृतत्व की प्राप्ति है।[२] अथर्ववेद में आचार्य के सात्त्विक भावों को 'जीमूत' (मेघ) कहा गया है।[३] शिष्य भी आचार्य के सामर्थ्य में रहने के उपरान्त मेघ के समान अन्यों के जीवन में हरियाली (सुख) की वर्षा करता है। राष्ट्र या समाज के लिये उपयोगी नूतन व्यक्तित्व का निर्माण करने का अवसर प्रदान करता है, इसलिये आचार्य को 'मृत्यु' अथवा 'यम' कहना पूर्णतया समीचीन है।

इसी प्रकार आचार्य शिष्य को पाप-मार्ग से निवृत्त करता है,[४] अतः, वह 'वरुण' भी है। आचार्य से प्राप्त होने वाली विद्या निःश्रेयस् मार्ग पर ले जाने वाली है और उसीको प्राप्त करके शिष्य के हृदय में शान्ति की प्रतिष्ठा होती है, इसलिये आचार्य को 'सोम' कहा गया है।[५] नचिकेता कहता भी है कि 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'[१] जिस प्रकार निश्चित मात्रा और

---

१. कठो० १.९. 'तिस्रो रात्रीर्यदवसीत्।'
२. यजु० ४०.१४. 'विद्ययाऽमृतमश्नुते।'
३. अथर्व० ११.५.१४.
४. अथर्व० ११.५.१४.
५. अथर्व० ११.५.१४.

पथ्य के साथ सेवन की गयी ओषधि दोषों का नाश करके रोगी को बल प्रदान करती है, उसी प्रकार आचार्य के द्वारा निश्चित मात्रा और विधि-विधान के साथ दी गयी शिक्षा शिष्य के अज्ञान रूप दोष का नाश करके उसे विवेक बल से पुष्ट करती है। इसलिये अथर्ववेद में आचार्य को 'ओषधि' कहा गया है।[२] आचार्य यास्क ओषधि का दोषों का पान करने वाली मानते हैं।[३]

अथर्ववेद आचार्य को 'पयस्' नाम से भी अभिहित करता है।[४] निघण्टु में पयस् उदक और अन्न का वाचक है।[५] महर्षि दयानन्द सरस्वती यजुर्वेदभाष्य में 'पयस्' का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि जिसके जानने से सब पदार्थ जान लिये जाते हैं, वह पयस् है।[६] आचार्य जल और अन्न के समान तृप्ति देने वाला है और जब शिष्य उसको जान लेता है अर्थात् गुरु की विद्या को आत्मसात् कर लेता है, तब उसके लिये कुछ जानना शेष नहीं रहता। गुरु के साथ तादात्म्य स्थापित करने में कुछ भी कठिनाई नहीं होती है। अग्रिम मन्त्र में उक्त तथ्य का उद्घाटन करते हुए कहा गया है कि गुरु के सहवास से शिष्य में दिव्य ज्ञान और तेज का प्रवाह प्रचलित होता है और आचार्य जो इच्छा करता है, उसकी पूर्ति शिष्य करता है।[७] कहने का आशय यह है कि आचार्य शिष्य में जिन सम्भावनाओं को देखता है, वह उनको विकसित करने का प्रयास करता है। शिष्य भी गुरु की अपेक्षाओं की अपनी सामर्थ्य के अनुसार पूर्ति करता है।

---

१. कठो० १.२७.
२. अथर्व० ११.५.१४.
३. निरु० ९.२७. 'दोषं धयन्तीति वा।'
४. अथर्व० ११.५.१४.
५. निघ०,१.१२,२.७.
६. यजु० २.२४.
७. अथर्व० ११.५.१५. 'अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणो यद्यैच्छत् प्रजापतौ। तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छन् स्वान् मित्रो अध्यात्मनः।'

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती आचार्य में जिन धार्मिक, सदाचारी, विद्वान् आदि गुणों का होना आवश्यक समझते हैं, वे अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य-सूक्त में प्रतिपादित गुणों से पूर्णतया मेल खाते हैं। यदि आज का शिक्षक उपर्युक्त गुणों का अपने में समावेश कर ले, तो निश्चितरूप से यह कहा जा सकता है कि देश और विश्व की समस्त समस्याओं का सफलतापूर्वक समाधान किया जा सकता है।

स्त्री शिक्षा

महर्षि दयानन्द सरस्वती का आविर्भाव इस देश में ऐसे समय हुआ था, जब शूद्र और स्त्री की शिक्षा पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा हुआ था।[१] उस युग में स्त्री शिक्षा की कल्पना करना परम्परा और धर्माचर्यों का विरोध करने के साथ-साथ एक आश्चर्य था। इसलिये महर्षि की शिक्षा व्यवस्था की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता स्त्री शिक्षा है। उनका स्पष्ट अभिमत था कि जब तक स्त्रियाँ विदुषी नहीं होतीं, तब तक उत्तम शिक्षा भी नहीं बढ़ती।[२] अत:, सब कन्याओं को पढ़ाने के लिये पूर्ण विद्या वाली स्त्रियों को नियुक्त करके सब बालिकाओं को पूर्ण विद्या और सुशिक्षा से युक्त करें, वैसे ही बालकों को भी किया करें।[३] महर्षि ने मनुष्य को पूर्ण ज्ञानवान् बनाने के लिये तीन शिक्षक स्वीकार किये हैं, उनमें से माता को प्रथम और महत्त्वपूर्ण शिक्षक माना है। वे कहते हैं कि वह कुल धन्य, वह सन्तान बड़ा भाग्यवान्, जिसके माता और पिता धार्मिक, विद्वान् हों।[४] आगे वे कहते हैं कि जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुँचता है, उतना किसी से नहीं।[५]

---

१. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य,३.३.३८.

२. यजु० ३७.४.

३. यजु०भा० १९.४४.

४. सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय समु०, पृ०,५२.

५. सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय समु०, पृ०,५२.

ऋग्वेद के एक मन्त्र की व्याख्या में वे स्त्री को एक वेद, दो वेद, चार वेद, चार वेद और चार उपवेद, चार वेद, चार उपवेद और और वेदाङ्गों का उपदेश करने वाली तथा परमात्मा के निमित्त प्रयत्न करने वाली बतलाते हुए कहते हैं कि ऐसी ही स्त्री विश्व का कल्याण करने वाली होती है।[१] कहने का आशय यह है कि महर्षि की दृष्टि में न केवल स्त्री को वेद पढ़ने का अधिकार है, अपितु उसको वेद की शिक्षा और उपदेश करने का भी पुरुष के समान अधिकार प्राप्त है। महर्षि दयानन्द सरस्वती लिङ्ग के आधार पर किसी प्रकार के भेदभाव के पक्ष में नहीं हैं। इसका कारण यह है कि ईश्वर ने जिस प्रकार आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी आदि को विना किसी भेद के सब प्राणियों को उपलब्ध कराया है, इसलिये कल्याण के निमित्त दिया जाने वाला ईश्वरीय ज्ञान किसी वर्ग विशेष वर्ग के लिये नहीं हो सकता। वे कहते हैं: वेद परमेश्वरोक्त हैं। इन्हीं के अनुसार सब लोगों को चलना चाहिये। जैसे माता-पिता अपने सन्तानों पर कृपा दृष्टि कर उन्नति चाहते हैं, वैसे ही परमात्मा ने सब मनुष्यों पर कृपा करके वेदों को प्रकाशित किया है, जिससे मनुष्य अविद्यान्धकार भ्रमजाल से छूटकर विद्या विज्ञान रूप सूर्य को प्राप्त होकर अत्यानन्द में रहें और विद्या तथा सुखों की वृद्धि करते जायें।' यह महर्षि की ही अपनी विशेषता है कि वे वेद के ज्ञान का पात्र मनुष्यमात्र को मानते हैं, जबकि उनसे पूर्व के विद्वान् स्त्री को उक्त अवसर देने के पक्ष में नहीं हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णन आया है कि जो व्यक्ति यह चाहता है कि मेरी पुत्री पण्डिता बन जाये, उसे इस-इस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये।[२] उक्त कथन की विवेचना करते हुए शङ्कराचार्य कहते हैं कि इस उपनिषद् में कन्याओं के पाण्डित्य का जो प्रतिपादन है, वह गृहकार्य विषयक ही समझना चाहिये, क्योंकि उनको वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है।[३] अभेद दर्शन का प्रतिपादन करने वाले आचार्य ज्ञान के क्षेत्र में भेद दर्शन की प्रतिष्ठा करते हैं, यह

---

१. ऋ० १.१६४.४१.

२. बृहदा० ६.४.१९. 'अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत।'

३. बृहदा०,६.४.१९. 'दुहितुः पाण्डित्यं गृहतन्त्रविषयमेव वेदेऽनधिकारात्।'

कितने आश्चर्य की बात है। शास्त्रार्थ के द्वारा बौद्धों के बुद्धत्व को निर्वाण तक पहुँचाने वाले आचार्य शङ्कर क्यों स्त्री और शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है, के सम्बन्ध में न वेद को प्रस्तुत करते हैं और न मनोवैज्ञानिक कारण ही उन्होंने दिया है। महर्षि का मानना है कि यदि ईश्वर शूद्रादि को उक्त वेद पठन के अधिकार से वञ्चित रखना चाहता तो उसकी शरीर संरचना भी द्विजों से भिन्न होती।[१] इसलिये ईश्वर की अन्य सभी वस्तुएँ स्त्री और शूद्र को द्विज के समान उपलब्ध हैं, अतः, वेद ज्ञान भी सबके लिये है।

महर्षि ने स्त्री को विदुषी बनाये जाने में एक सामाजिक कारण भी दिया है। वे कहते हैं कि स्त्री और पुरुष में से एक के भी अशिक्षित रहने पर घर में सुख-शान्ति नहीं रह सकती है।[२] कहने का आशय यह है कि पारिवारिक सुख का आधार समता है। पति-पत्नी दोनों का मानसिक स्तर, जब समान होता है, तभी वे एक-दूसरे की समस्याओं को समझकर वे उनके समाधान में सहयोग कर सकते हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती की दृष्टि में नारी का कार्यक्षेत्र केवल घर तक सीमित नहीं है। इसलिये वे स्त्रियों के न्यूनतम अध्ययनीय विषयों में व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्पविद्या आदि का परिगणन करते हैं।[३] उनका मानना है कि विना उक्त विद्याओं का अध्ययन किये स्त्री अपने घर का सञ्चालन भी भलीभाँति नहीं कर सकती। इस प्रकार महर्षि दयानन्द सरस्वती की दृष्टि में नारी शिक्षा एवं कर्मक्षेत्र में वे सभी अधिकार प्राप्त हैं, जो एक पुरुष को हैं। लिङ्ग या शरीर संरचना के आधार पर महर्षि का दृष्टिकोण पूर्णतया तर्कसङ्गत है, क्योंकि चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि में पुत्र और पुत्री अपने माता-पिता के गुणसूत्रों के समान उत्तराधिकारी हैं, उनमें किसी प्रकार का भेदभाव करना न केवल तुच्छता का प्रतीक है, अपितु अमानवीय भी है।

---

१. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,१२६.
२. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,१२७.
३. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,१२८.

पठन-पाठनविधि

महर्षि दयानन्द सरस्वती के मत में अक्षर ज्ञान बालक को माता-पिता को ही करवा देना चाहिये। महर्षि की दृष्टि में यही छात्र की आचार्य-कुल में प्रवेश की योग्यता है, महर्षि दयानन्द सरस्वती की पाठविधि के अनुसार देवनागरी लिपि का ज्ञान रखने वाले बालक को सर्वप्रथम पाणिनिकृत अष्टाध्यायी सूत्रों को कण्ठस्थ करना चाहिये। उसके बाद पदच्छेद करते हुए सूत्रों का अर्थ व्याख्या सहित हृदयङ्गम करना चाहिये। पाणिनिकृत अष्टाध्यायी का अध्ययन करने वाला छात्र लौकिक संस्कृत और वैदिक संस्कृत के शब्दों का अर्थ समझने की योग्यता अर्जित कर लेता है, इसलिये उसे अन्य साहित्य का अनुशीलन करने में कठिनाई नहीं होती। उनके अनुसार अष्टाध्यायी के पश्चात् धातुपाठ, उणादिकोष, अष्टाध्यायी के सूत्रों की द्वितीयानुवृत्ति का अध्ययन करवाना चाहिये, उक्त अध्ययन हेतु महर्षि ने तीन वर्ष का समय निर्धारित किया है।[१]

उक्त पठन-पाठन विधि का आधार महर्षि ने पाणिनि प्रक्रिया को बनाया है। उनका मानना है कि उक्त विधि से जितना अध्ययन तीन वर्षों में हो जाता है, उतना सारस्वत चन्द्रिका, कौमुदी, मनोरमा आदि ग्रन्थों के अध्ययन से पचास वर्षों में भी सम्भव नहीं है। वे कहते हैं कि ऋषियों की शैली सुगम और उसके ग्रहण में थोड़ा समय लगता है है, जबकि कौमुदी आदि ग्रन्थों की शैली दुरूह और उसके ग्रहण में समय अधिक तथा बोध कम होता है।[२] उनकी दृष्टि में कौमुदी आदि ग्रन्थों का अध्ययन पहाड़ खोदकर कौड़ी प्राप्त करने जैसा है।[३] महर्षि का उपर्युक्त विश्लेषण यथार्थपरक है। पाणिनि व्याकरण की प्रमुख विशेषता उसकी संक्षिप्तता है, लेकिन कौमुदी आदि प्रक्रिया ग्रन्थों ने पाणिनि व्याकरण की उसी विशेषता को प्रभावित किया है। अष्टाध्यायी के सूत्र जिस शैली और स्थान पर रक्खे गये हैं,

१. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,११०-११३.
२. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,११३-११४.
३. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,११४.

वहाँ से हटा देने के बाद उनका अर्थ अस्पष्ट हो जाता है। इसका कारण यह है कि पाणिनि अष्टाध्यायी के सूत्र अनुवृत्ति, पूर्वापर सम्बन्ध, सिद्ध और असिद्ध आदि विशेषताओं का प्रतिपादन भी करते हैं। जब तक उक्त विशेषताओं को समझ नहीं लिया जाता, तब तक पाणिनि व्याकरण के मर्म को जान पाना सम्भव नहीं है।

इस प्रसङ्ग में यह कह देना असमीचीन नहीं होगा कि जो भूल प्रक्रिया ग्रन्थों के लेखकों ने कौमुदी आदि ग्रन्थों का प्रणयन करके की, यही भूल महर्षि ने 'वेदाङ्ग-प्रकाश' नाम से एक शृङ्खला का प्रणयन करके की है। दोनों ही स्थानों पर पाणिनि प्रक्रिया दूषित हुई है, वह अपने मूल रूप में नहीं रह पायी है। लेकिन महर्षि ने पाठविधि में उक्त वेदाङ्ग-प्रकाशों को स्थान नहीं दिया है। इससे यह सूचित होता है कि वेदाङ्ग-प्रकाशों का अध्ययन आपद्धर्म है, जिसके पास गुरु के निकट रहकर पढ़ने का समय नहीं है, प्रौढ़ हो चुका है और यत्किञ्चिद् व्याकरण ही जानना चाहता है, उसके लिये ही महर्षि ने सम्भवत: 'वेदाङ्ग-प्रकाश' शृङ्खला का प्रणयन किया है।

व्याकरण का अध्ययन कर लेने के उपरान्त आठ मास में यास्कमुनिकृत निघण्टु और निरुक्त, चार महीने में छन्द, एक वर्ष में मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण और महाभारत के चुने हुए प्रकरण, अगले दो वर्ष में षड्दर्शन एवं दस उपनिषद्, अगले छ: वर्ष में ऐतरेय, शतपथ, गोपथ, साम- इन चार ब्राह्मणों और चारों वेदों का अध्ययन कराना चाहिये।[१]

महर्षि की पाठविधि का उद्देश्य छात्रों को मात्र शिक्षक बनाना नहीं है। वे ऐसी शिक्षा देने के पक्ष में हैं, जिसमें छात्र स्वावलम्बी होकर गौरवपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकें। इसलिये वे उक्त अध्ययन के उपरान्त छात्र को आयुर्वेद, धनुर्वेद (युद्धविद्या तथा राजनीतिशास्त्र), गान्धर्ववेद (सङ्गीतशास्त्र), अथर्ववेद (पदार्थविद्या तथा शिल्पशास्त्र), ज्योतिषशास्त्र (अङ्कगणित), बीजगणित, भूगोल, खगोल, भूगर्भ विद्या, यन्त्र कला आदि विज्ञान विषयक

---

१. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,११४-१७.

ग्रन्थों का अध्ययन कराने के पक्ष में हैं।[१] महर्षि ने आयुर्वेद के लिये चार वर्ष तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन करने के लिये दो-दो वर्ष का समय निर्धारित किया है। इस प्रकार महर्षि की पाठविधि का अध्ययन २१ वर्ष में किया जा सकता है। इसमें से १३ वर्ष का समय वेद-वेदाङ्गों का अध्ययन करने हेतु तथा ८ वर्ष का समय अन्य दैनन्दिन जीवन में काम आने वाले आयुर्वेद आदि के लिये दिया है।

उपर्युक्त महर्षि की पाठविधि के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त पाठ्यक्रम में छात्र के सर्वाङ्गीण विकास की सम्भावनायें निहित हैं। उसे केवल भाषा का ही ज्ञान नहीं कराया जाता, अपितु छात्र को सामाजिक और भौतिक विषयों का अध्ययन कराकर समाज और राष्ट्रहित के लिये उपयोगी बनाया जाता है।

उपर्युक्त पाठ्यक्रम का अध्ययन करने से यह प्रश्न उठता है कि क्या एक प्रतिभावान् छात्र इतने सम्पूर्ण वाङ्मय का उक्त अवधि में अध्ययन कर सकता है? निश्चितरूप से यह कहा जा सकता है कि किसी भी छात्र के लिये उक्त सम्पूर्ण पाठ्यक्रम का उक्त नियत अवधि पढ़ लेना सम्भव नहीं है। यदि किसी एकाध के लिये सम्भव भी हो तो कम से कम सामान्य छात्र पर इसको लागू करना आज के छात्र की क्षमता को देखते हुए सम्भव नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि महर्षि का विचार भी एक छात्र पर इतना सब कुछ लाद देने का नहीं था। जैसी परम्परा चली आ रही है, द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी अर्थात् इससे यह सूचित होता है कि छात्र को कम से कम एक वेद का अध्ययन अवश्य करना चाहिये, इससे अधिक अध्ययन करने वालों को उक्त *'उपाधियों'* की प्राप्ति होती थी। इसी प्रकार आयुर्वेद आदि में से भी छात्र किसी एक का अपने लिये चयन कर सकता है। इसके विपरीत ऐसी किसी परम्परा के दर्शन नहीं होते, जिसमें प्रत्येक छात्र को सब कुछ पढ़ने के लिये विवश किया जाए। तृतीय समुल्लास के अन्त में महर्षि स्त्री-पुरुषों के लिये न्यूनतम अध्ययनीय विषयों का परिगणन करते हुए कहते हैं कि पुरुषों को व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित और शिल्पविद्या तो अवश्य

---

१. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,११७-१९.

सीखनी चाहिये।[१] इस प्रकार महर्षि की दृष्टि में व्याकरण और धर्म का ज्ञान स्त्री व पुरुष दोनों के लिये अनिवार्य है, लेकिन पुरुष को जहाँ व्यवहार अर्थात् आजीविका की विद्या सीखना अपेक्षित है, वहाँ स्त्री को वैद्यक, गणित और शिल्पविद्या का अध्ययन करना आवश्यक है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि का उक्त पाठ्यक्रम सामान्य रूप से सबके लिये नहीं है, फिर भी इस विषय में यह कह देना अधिक उचित प्रतीत होता है कि आज के छात्र की प्रतिभा को देखते हुए महर्षि की पाठविधि व्यावहारिक नहीं है। महर्षि ने जिस आदर्श को सामने रखकर उक्त पाठविधि का गठन किया है, उसको यथार्थ रूप दे पाना सम्भव दिखायी नहीं देता है। यही कारण है कि महर्षि और आर्यसमाज के आदर्शों को यथार्थ में परिणत करने के लिये गुरुकुल और डी०ए०वी० नाम से गठित पाठशालायें एक भी छात्र को महर्षि की पाठविधि के अनुरूप तैय्यार करने में असमर्थ रही हैं। इसलिये आर्य समाज की किसी भी संस्था ने महर्षि की पाठविभि को पूर्णरूप से नहीं अपनाया है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि महर्षि की पठन-पाठनविधि उत्तम है, उसका उद्देश्य महान् है, उसके अध्ययन से मनुष्य सर्वाङ्गीण विकास कर सकता है, परन्तु वर्तमान युग में व्यक्ति की क्षमताओं और प्रवृत्ति को देखते हुए उसके पुनरीक्षित किये जाने की आवश्यकता है।

शिक्षा में विज्ञान का स्थान

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित शिक्षा का स्वरूप विज्ञान विरोधी सर्वथा नहीं है। प्राचीन आदर्श और परम्पराओं को विशुद्ध रूप में अपने में समाहित किए हुए होने पर भी वह किसी भी दृष्टि से प्रतिगामी नहीं है। वह किसी भी ऐसी रूढ़ि का समर्थन नहीं करता, जो वैज्ञानिक या तर्कसङ्गत न हो, अथवा जिसका आधार मात्र काल्पनिक हो। महर्षि की सम्पूर्ण जीवन-शैली एवं शिक्षा-शैली विज्ञान एवं तर्क के सहारे खड़ी हुई है।

---

१. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,१२८.

यज्ञ के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए महर्षि कहते हैं कि त्रिविध यज्ञों में सम्पूर्ण शिल्पविद्या का ज्ञान भी एक यज्ञ है।[१] इसके अतिरिक्त 'वेद' शब्द का अर्थ 'ज्ञान' है। महर्षि कहते हैं कि ऋग्वेद में पदार्थों के गुणों का प्रकाश किया गया है, जिससे उनमें प्रीति बढ़कर उपकार लेने का ज्ञान प्राप्त हो सके, क्योंकि विना प्रत्यक्ष ज्ञान के संस्कार और प्रवृत्ति का प्रारम्भ नहीं हो सकता।[२] आगे वे कहते हैं कि यजुर्वेद में क्रियाकाण्ड का विधान लिखा है, क्योंकि ज्ञान के पश्चात् ही कर्ता की प्रवृत्ति यथावत् हो सकती है।[३] कहने का आशय यह है कि ऋग्वेद से पदार्थ के गुणों का ज्ञान तथा यजुर्वेद से उन गुणों का लोकहित में प्रयोग होता है। वस्तुतः, जब ज्ञान प्रयोग का विषय बनता है, तब वह विज्ञान कहलाता है। इस प्रकार ईश्वरीय ज्ञान वेद हमें विज्ञान की ओर प्रवृत्त करता है और महर्षि मनुष्यमात्र को वेदाध्ययन के लिये प्रेरित करते हैं, लक्ष्य दोनों का एक ही है। इसलिये महर्षि की शिक्षा व्यवस्था का मूल आधार विज्ञान है।

अथर्ववेद, विशेषरूप से, शिल्पविद्या का वेद कहलाता है। महर्षि कहते हैं कि अथर्ववेद जिसको शिल्पविद्या कहते हैं, पदार्थ गुणविज्ञान, क्रिया कौशल, नानाविध पदार्थों का निर्माण, पृथिवी से लेकर आकाश पर्यन्त की विद्या को यथावत् सीखना चाहिये।[४] इससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि की दृष्टि में विज्ञान का अध्ययन और विकास नितान्त अपेक्षित है। द्विविध धर्म के स्वरूप में से अभ्युदय रूप धर्म की प्राप्ति विना विज्ञान के सम्भव नहीं है। यदि ज्ञान प्राप्त करना धर्म है, तो विज्ञान का अध्ययन और विकास परमधर्म है। प्रथम सिद्धान्त है और दूसरा उसका प्रयोग है। ज्ञान, ज्ञान के लिये नहीं होता, वरन् प्रयोग के लिये

---

१. ऋ०,१.३.१०. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ०,१०८.

२. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रश्नोत्तरविषयः, पृ०,३९०-९१.

३. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रश्नोत्तरविषयः, पृ०,३९१.

४. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,११८.

होता है और महर्षि दयानन्द सरस्वती विज्ञान की दिशा का सङ्केत करके वैदिक धर्म का ही मात्र प्रतिपादन कर रहे हैं।

ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र की व्याख्या में 'अग्नि' शब्द का विवेचन करते हुए महर्षि कहते हैं कि 'जो पहले समय में आर्य लोगों ने 'अश्व विद्या' के नाम से शीघ्र गमन का हेतु शिल्पविद्या उत्पन्न की थी, वह अग्निविद्या की ही उन्नति थी।'[१] इस प्रकार महर्षि की दृष्टि में विज्ञान का मूल वेद है और वही शिक्षा का लक्ष्य है। जिस समय देश में महर्षि का आविर्भाव हुआ था, उस समय यह देश आर्थिक और राजनैतिक रूप से पराधीन था। आर्थिक पराधीनता का कारण भारतीयों का विज्ञान की दृष्टि से पिछड़ापन था। महर्षि शिक्षा में विज्ञान या विज्ञान मूलक शिक्षा का प्रतिपादन करके आर्थिक पराधीनता से मुक्ति दिलाने का प्रयास कर रहे हैं।

महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित शिक्षा प्रणाली की विशेषताएँ

ब्रह्मचर्य अवस्था मानव जीवन की प्रथम सीढ़ी है। इस अवस्था में गुरु के पास पहुँचा हुआ छात्र कच्ची मिट्टी के समान होता है, जिसे आचार्य जैसा आकार देना चाहता है, दे सकता है। यदि उस मिट्टी के पात्र में सुघड़ता नहीं दिखायी देती या वह छिद्रादि के कारण उपयोग के अयोग्य है, तो यह दोष उस पात्र का नहीं है, यह दोष तो कुम्भकार का है। कई बार उपादान (मिट्टी) दोष के कारण भी पात्र में प्रयास के अनुरूप परिणाम प्रतिफलित नहीं होते है। इसलिये महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षा का प्रारम्भ गुरुकुल से नहीं होता, उसका प्रारम्भ तो माता के गर्भ में आने से पूर्व हो चुका होता है।[२] भावी राष्ट्रीय आकाङ्क्षाओं के अनुरूप व्यक्ति का निर्माण करने के लिये महर्षि उपादान कारण (माता-पिता) को लक्ष्य के उपयुक्त बनाना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं। यही कारण है कि माता प्रथम शिक्षक है और पिता द्वितीय। आचार्य की गिनती तृतीय स्थान पर होती है और व्यक्तित्व निर्माण में उसकी भूमिका उतनी ही गौण है। आचार्य तो मात्र छात्र में निहित क्षमताओं का विकास

---

१. ऋग्वेदभाष्य, १.१.१.

२. सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय समु०, पृ०,५२-५३.

करता है, जबकि माता-पिता उसमें गुणों का सन्धान करते हैं। कदाचिद् निमित्त कारण के विना वस्तु का निर्माण हो भी जाये, परन्तु उपादान कारण के विना वस्तु अस्तित्व में ही नहीं आ सकती। इस प्रकार उपादान कारण (माता-पिता) अस्तित्व की अभिव्यक्ति करते हैं और निमित्त कारण (आचार्य) उसे अभीष्ट रङ्ग-रूप प्रदान करता है। यदि व्यक्ति के व्यक्तित्व का सन्तुलित निर्माण और विकास नहीं होता तो यह दोष उस व्यक्ति का सर्वथा नहीं है, इसमें प्रथम दोष माता-पिता का है और द्वितीय आचार्य का। अतः, उपयोगी मानव का निर्माण करने के लिये शिक्षा की प्रथम इकाई माता और द्वितीय इकाई पिता को सर्वप्रथम शिक्षित करने की आवश्यकता है।

जहाँ तक आधुनिक शिक्षा-पद्धति का प्रश्न है, वह निर्माता की बिल्कुल चर्चा नहीं करती है। उसकी दृष्टि में व्यक्तित्व निर्माण में आचार्य की अवश्य कुछ न कुछ भूमिका है, परन्तु उसमें माता-पिता पर सर्वथा ध्यान नहीं दिया गया है। उसमें आचार्य के चयन में शिक्षक का आचार नहीं देखा जाता, मात्र उसकी शैक्षणिक योग्यता का ही आकलन किया जाता है, जबकि महर्षि की शिक्षा प्रणाली आचार्य के चयन में सदाचार को सर्वोच्च स्थान देती है।[१] सदाचार के विना आचार्य की शैक्षणिक योग्यता अर्थहीन है, वह उन कृत्रिम फूलों की तरह है, जिनमें अपनी सुवास नहीं होती। क्या भला सुवास रहित कृत्रिम पुष्प भी किसी नये पौधे को अंकुरित कर सका है। इसी प्रकार आचार्य की सदाचार रहित योग्यता निर्माण नहीं, वरन् विनाश का पथ प्रशस्त करती है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती की दृष्टि में शिक्षा का प्रारम्भ किसी विद्यालय में नहीं होता, उसका प्रारम्भ सुयोग्य माता-पिता के निर्माण से होता है। महर्षि प्रतिपादित शिक्षा के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि समाज ऐसे व्यक्ति को माता-पिता बनने का अधिकार न दे, जो राष्ट्रीय अथवा विश्वव्यापी आकाङ्क्षाओं के अनुरूप सन्तान का निर्माण करने में अक्षम हो। इसके अतिरिक्त छात्र के निर्माण में आचार्य

१. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,६६.

की योग्यता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण उसका सदाचारशील होना है। इसका यह आशय नहीं है कि शैक्षिक योग्यता से रहित भी आचार्य बन सकता है।

समाज

माता-पिता और शिक्षक की छात्र के चरित्र और व्यक्तित्व निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका है, परन्तु समाज में व्याप्त विषमताओं और कुण्ठाओं से न छात्र प्रभावित हुए विना रह सकता है और न उसके गुरुजन ही। समाज में व्याप्त द्वन्द्व, अन्तर्विरोध, असन्तोष, सम्पत्ति और सुविधाओं तथा उनको पाने के अवसरों का अविवेकपूर्ण विनियोजन- ये कुछ ऐसे कारक हैं, जिनसे प्रभावित हुए विना न माता-पिता रह सकते हैं और न शिक्षक, फिर भला वह बेचारा छात्र इनकी मार से कैसे बच सकता है। विलासमय जीवन यापन के लिये जिस विशाल धनराशि की आवश्यकता होती है, उसे कुछ लोग कैसे प्राप्त करते हैं, आज के इस समाज में यह किसी से छिपा हुआ नहीं है। समाज की दृष्टि उक्त गर्हित आचरण करने वालों के प्रति हेय या तिरस्कृत होने के स्थान पर सम्मान की है। यह समाज सदाचार की पूजा नहीं करता, इसके लिये तो दुराचार अभिनन्दनीय है। इस सबका बहुत गहरा मनोवैज्ञानिक प्रभाव बालक के निर्दोष और निश्छल मन पर, जिस रूप में पड़ता है, वह समाज का कल्याण करने वाला नहीं बन सकता। वह जो शिक्षा लेता है, वह यह है कि मूर्ख और अक्षम लोग ही सदाचार और 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का व्यर्थ प्रलाप करते हैं। व्यक्ति का चरम उद्देश्य येन केन प्रकारेण अपने स्वार्थ की साधना करते हुए सर्वोच्च स्थान को हस्तगत करना है। उसके लिये माता-पिता और आचार्य की नैतिक मान्यताओं का कोई मूल्य नहीं है। इसलिये यदि हम शिक्षा और शिक्षक को आदर्श रूप में देखना चाहते हैं तो समाज में फैलते हुए अनाचार रूप असाध्य रोग की सर्वप्रथम चिकित्सा करनी होगी।

महर्षि की शिक्षा व्यवस्था समाज की इस असङ्गत छाया को बालक के मन और मस्तिष्क में न पड़ने देने के लिये गुरुकुलीय व्यवस्था को अङ्गीकार करती है।[१] यह शिक्षा

१. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,६६.

व्यवस्था, जहाँ समाज की कुरीतियों का प्रभाव बालक पर नहीं पड़ने देती, वहीं माता-पिता में हो सकने वाले दोषों या उनकी स्थिति से उत्पन्न होने वाले अहङ्कार या हीनभावना से बालक की रक्षा करती है। इसके अतिरिक्त वर्ण-निर्धारण का दायित्व भी आचार्य का होने से, जो आज सामाजिक न्याय का सङ्कट समाज को अतिक्रान्त हुए है, का भी महर्षि की शिक्षा-पद्धति से समाधान हो जाता है। इस प्रकार महर्षि की शिक्षा व्यवस्था समाज के समस्त दोषों का निराकरण करने में सक्षम है और समाज के निषेधात्मक प्रभाव से बालक की रक्षा भी करती है।

नैतिकता

आधुनिक शिक्षा प्रणाली का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसमें माता-पिता, गुरुजन, परिवार, समाज और राष्ट्र के प्रति दायित्व का बोध छात्र को नहीं कराया जाता है। शारीरिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक- किसी भी प्रकार का विकास न होने के कारण आज के छात्र में कुण्ठायें उत्पन्न हो गयी हैं। उसे न तो अपने लक्ष्य की पहिचान है और न कर्तव्य की। उसके लिये विद्या का प्रथम और अन्तिम उद्देश्य धन सङ्ग्रह करना है, इसी दृष्टि से वह अपने लिये व्यवसाय का चयन करता है, जबकि उसका आधार प्रवृत्ति होना चाहिये। सेवा की भावना से रहित एक कुशल चिकित्सक भी समाज के लिये अनुपयोगी होता है। प्रवृत्ति जब वृत्ति बनती है, तभी व्यक्ति समाज को कुछ दे सकता है। जब आज जीवन में नीति का अभाव है, तब नैतिकता का स्वर कैसे सुनायी दे सकता है ? नैतिकता को अपनाने के लिये जीवन के कुछ आदर्श निश्चित करने पड़ते हैं। दूसरों के लिये अपने स्वार्थ का उत्सर्ग करना चाहिये, के पाठ का अभ्यास कराना होता है। मात्र गुरु के नैतिक होने से काम चलने वाला नहीं है, पूरे वातावरण को नैतिक बनाना होगा, अन्यथा एक ही गुरु के शिष्य युधिष्ठिर और दुर्योधन के समान एक के पास नैतिकता होगी और दूसरे के पास उसका अभाव । अत:, नैतिक शिक्षा देना और नैतिक बनना ये दोनों बातें एक नहीं हैं। नैतिकता का उपदेश देने वाले प्राय: अनैतिक कार्य करते हुए देखे जा सकते हैं। एक बालक भी सत्य बोलना चाहिये, के सत्य से परिचित है, परन्तु केवल जानने मात्र से सत्य आचरण में नहीं आता। इस कार्य के लिये

नैतिक शिक्षा की उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी कि नैतिक आचरणयुक्त वातावरण की। यदि वातावरण अनैतिक है, तो व्यक्ति पर नैतिक शिक्षा का अपेक्षित प्रभाव नहीं पड़ता। यही कारण है कि महर्षि छात्र को समाज के दूषित वातावरण से दूर रखने के पक्ष में हैं। इसी प्रकार छात्र पर नैतिक शिक्षा का उतना प्रभाव नहीं पड़ता, जितना माता-पिता और शिक्षक के व्यक्तिगत आचरण का। इसलिये जहाँ माता-पिता का आचरण संयमित होना चाहिये, वहीं शिक्षक का जीवन भी त्याग और तपस्या से समन्वित होना चाहिये। विलासी जीवन जीने वाला शिक्षक आदर्श शिक्षक नहीं बन सकता। जिसका सम्पूर्ण ध्यान धन पर केन्द्रित है, वह विद्या व्यसनी कैसे हो सकता है। उसके पास छात्र को देने के लिये यदि कुछ है, तो वह लिप्सा है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नैतिक शिक्षा से अधिक महत्त्वपूर्ण माता-पिता और शिक्षक तथा उनसे भी अधिक समाज के वातावरण को नैतिक बनाने की आवश्यकता है, तभी सभ्य समाज बन सकता है।

आजीविका

वर्तमान शिक्षा प्रणाणी व्यक्ति को कैसे चौराहे पर लाकर छोड़ती है, जहाँ पहुँचकर वह न घर का रहता है और न घाट का। बहुत कम ऐसे सौभाग्यशाली व्यक्ति होते हैं, जिन्हें अपनी इच्छा के अनुसार अध्ययन के अवसर तथा उसके तत्काल पश्चात् योग्यता के अनुरूप कार्यक्षेत्र मिल पाता है। अधिकांशत: आज के शिक्षित युवक को न मन के अनुरूप अध्ययन का क्षेत्र और न योग्यता और परिस्थिति के अनुकूल आजीविका का साधन मिलता है। इसलिये वह कुण्ठित होकर जिस किसी भी कार्य को करता है, उसमें से आत्म-सन्तोष की सुगन्ध के स्थान पर कुण्ठा और असन्तोष का काला धुँआ निकलता है, जो केवल निराशा का सृजन करता है।

महर्षि द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-पद्धति में प्रत्येक छात्र को आयुर्वेद, धनुर्वेद, अथर्ववेदादि शिल्प एवं जीवनोपयोगी शिक्षा का अध्ययन करना पड़ता है,[१] और इतने विस्तृत

१. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,११७-१८.

अध्ययन करने के बाद वह सरलता से अपनी लोकयात्रा के लिये वृत्ति का चयन कर सकता है। वह छात्र आजीविका की दृष्टि से न शासन पर भार है और न माता-पिता पर। स्नातक बनकर निकला हुआ छात्र ऋण लेने के लिये जीवन यात्रा का प्रारम्भ नहीं करता, वरन् उस पर जो ऋण हैं, उनसे उर्ऋण होने के लिये वह अपनी लोकयात्रा का प्रारम्भ करता है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली का स्नातक जहाँ परिवार, समाज, राष्ट्र और यहाँ तक कि स्वयं के लिये वह समस्या होता है, जबकि महर्षि की शिक्षा-पद्धति का स्नातक उक्त सभी की समस्याओं का समाधान करने वाला होता है। वह अपने साथ-साथ समाज को अभ्युदय के पथ पर ले जाता है और अन्त में नि:श्रेयस् मार्ग का पथिक बनकर लोकमङ्गल के लिये अपने सर्वस्व का भी अर्पण करता है।

उपर्युक्त विस्तृत विवेचन करने के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि महर्षि द्वारा प्रस्तुत पाठविधि समाज, राष्ट्र और विश्व की समस्त समस्याओं का समाधान करने में सक्षम है। इसका कारण यह है कि यह अभ्युदय और नि:श्रेयस् में से किसी एक पथ का अवलम्बन नहीं करती। मनुष्य की पूर्णता और दिव्यता के लिये आवश्यक सभी पक्षों का इसमें समुचित समावेश है। इस शिक्षा-पद्धति का आधार धर्म है और समस्त भौतिक सुखों को भोगते हुए सत्य की प्राप्ति करना इसका लक्ष्य है। दूसरे शब्दों में पुरुषार्थ-चतुष्टय की सम्यक् और समयबद्ध उपलब्धि ही महर्षि की शिक्षा-पद्धति का लक्ष्य है।

डॉ. ज्ञान प्रकाश शास्त्री
प्रोफेसर एवं निदेशक
श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार.

भारतीय शिक्षा में प्रयोग: गुरुकुल काँगड़ी

डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री

डॉ. नवनीत

प्राचीन भारत में गुरुकुल ही एकमात्र प्रमुख शिक्षण संस्था थी और विद्यार्थी गुरुकुल में ही रहकर विद्याध्ययन करते थे। लेकिन विदेशियों के शासनकाल में शनैः शनैः हमारी शिक्षा के उद्देश्यों में भी परिवर्तन होने लगा तथा ब्रिटिश शासन काल में तो सर्वथा नवीन ढंग की शिक्षा संस्थायें स्थापित हुईं।

१९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब देश में विविध राजनीतिक, सामाजिक व धार्मिक आन्दोलन होने लगे तब आर्यसमाज के प्रवर्त्तक व सुपरिचित विचारक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने समकालीन शिक्षा पद्धति के दोषों का विश्लेषण करते हुए प्राचीन गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के आदर्श को प्रस्तुत कर उसके समर्थन में कई अकाट्य तर्क प्रस्तुत किये।

पर आर्य समाज के प्रसारार्थ भ्रमण करने में व्यस्त रहने के फलस्वरूप और अकालमृत्यु के कारण वे अपने जीवनकाल में उस प्रकार की कोई संस्था स्थापित न कर सके। उनकी मृत्यु के पश्चात् भारत के विभिन्न प्रदेशों में गुरुकुल संस्थाओं की स्थापना की गई, जिनमें **गुरुकुल काँगड़ी** का नाम उल्लेखनीय है।

हरिद्वार के निकट गंगा के पूर्वी तट पर तत्कालीन बिजनौर जनपद में एक छोटा सा गाँव है-काँगड़ी। २०वीं सदी के आरम्भ में स्वामी श्रद्धानन्द जी (तत्कालीन महात्मा मुंशीराम १८५७-१९२६ ई०) ने यहाँ एक गुरुकुल स्थापना की थी। इसकी स्थापना से उस समय शिक्षा के क्षेत्र में एक नवीन उत्साह का जागरण हुआ। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्री रैमजे

मैक्डोनल्ड के शब्दों में-"मैकाले के बाद भारत में शिक्षा के क्षेत्र में जो सबसे महत्त्वपूर्ण और मौलिक प्रयास हुआ, वह गुरुकुल है।" गुरुकुल काँगड़ी शिक्षा के विषय में एक विशेष विचारधारा का प्रतीक है।

१९वीं शताब्दी के भारत में शिक्षा प्रणालियाँ प्राय: दो प्रकार की थीं। पहली सरकारी स्कूलों और विश्वविद्यालयों की प्रणाली थी। इस प्रणाली का जन्म ब्रिटिश सरकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ था।

दूसरी संस्कृत, व्याकरण, दर्शन आदि वाङ्मय विधाओं को प्राचीन परम्परागत विधि से अध्ययन करने की प्रणाली थी। इसे पाठशाला प्रणाली भी कहते थे।

शिक्षा की ब्रिटिश प्रणाली के समर्थक लार्ड मैकाले (१८००-१८५९) के मतानुसार -"किसी अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय की अल्मारी के खाने में पड़ी पुस्तकों का महत्त्व भारत और अरब के समूचे साहित्य के बराबर था।"

अत: ब्रिटिश प्रणाली का उद्देश्य मैकाले के शब्दों में- "भारतीयों का एक ऐसा समूह पैदा करना था, जो रंग तथा रक्त की दृष्टि से तो भारतीय हो, परन्तु रुचि, मति तथा आचार-विचार की दृष्टि से अंगरेज हो।" यह शिक्षा पद्धति भारत के राष्ट्रीय और धार्मिक आदर्शों के विपरीत थी।

दूसरी प्रणाली अध्यात्मवादी प्रणाली थी, इसमें यद्यपि वाङ्मय का अध्ययन कराया जाता था, परन्तु यह नवीन तथा वैज्ञानिक शिक्षा देने में असमर्थ थी। ऐसी स्थिति में भारत के लिए इन दोनों में से कोई भी प्रणाली उपयुक्त न थी। इसलिए गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना हुई।

गुरुकुल की स्थापना का आदर्श भारतीयों को ऐसी शिक्षा देना था, जो उन्हें भारतीय एवं पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का समन्वय करते हुए दोनों शिक्षा प्रणालियों के श्रेष्ठ तत्त्वों के संगठित रूप को दिखा सके।

गुरुकुल के संस्थापक महात्मा मुंशीराम, महर्षि दयानन्द (१८२४-१८८३) के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "सत्यार्थ-प्रकाश" में प्रतिपादित शिक्षा सम्बन्धी विचारों से बहुत प्रभावित हुए। महर्षि दयानन्द सरस्वती सांस्कृतिक पुनर्जागरण में असाधारण महत्त्व रखने वाले आर्य समाज के प्रवर्त्तक थे। इनसे प्रभावित होकर महात्मा मुंशीराम ने गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना की। ३० अक्तूबर १८९८ ई० को उन्होंने इसकी विस्तृत योजना बनाई।

नवम्बर १८९८ ई० में पंजाब के आर्यसमाजों के केन्द्रिय संगठन आर्य प्रतिनिधि सभा ने गुरुकुल की स्थापना का प्रस्ताव स्वीकार किया और महात्मा मुंशीराम ने तीस हजार रुपया एकत्रित करने का संकल्प किया।

परिस्थितियों के विपरीत होते हुए भी उन्होंने इस दु:साध्य कार्य को आठ मास में पूरा करके १६ मई १९९० ई० में पंजाब के गुजरांवाला स्थान पर एक वैदिक पाठशाला के साथ गुरुकुल स्थापना करवा दी। महात्मा जी इस स्थान को उपयुक्त नहीं समझते थे। उनका कहना था कि शुक्ल यजुर्वेद के एक मन्त्र (२६.१५)-

"उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनां धिया विप्रो अजायत" के अनुसार- नदी और पर्वत के निकट कोई स्थान होना चाहिये।

महात्मा मुंशीराम ने इसके लिए नजीबाबाद के धर्मनिष्ठ रईस अमरसिंह जी से १२०० बीघे का कांगड़ी ग्राम दान में ले लिया है। इसी स्थान पर महात्मा मुंशीराम ने ४ मार्च १९०२ ई० को गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना की होली के शुभ दिन सोमवार को करवा दी।

प्रारम्भ में गुरुकुल के विद्यार्थियों की संख्या ३४ थी। पंजाब की आर्य जनता ने स्वामी जी के साथ उदारता का व्यवहार किया और गुरुकुल की व्यवस्था में सहयोग प्रदान किया और इस प्रकार इस विद्यालय का विकास होने लगा। १९०७ ई० में इसका महाविद्यालय विभाग प्रारम्भ हुआ। १९१२ ई० में गुरुकुल काँगड़ी से शिक्षा समाप्त कर निकलने वाले स्नातकों का पहला दीक्षान्त समारोह (Convocation) हुआ। इसमें ब्र० इन्द्रचन्द्र और ब्र० हरिश्चन्द्र को क्रमश: वेदालङ्कार और विद्यालङ्कार की उपाधियाँ प्रदान की गयीं। ये गुरुकुल

वाटिका के प्रथम फल थे। लेकिन ब्रिटिश सरकार इस संस्था को बहुत दिनों तक राजद्रोही समझती रही।

१९१७ ई० में वायसराय लार्ड चेन्जफोर्ट न गुरुकुल का भ्रमण किया और ब्रिटिश सरकार की शंका का समाधान हुआ। १९२१ ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा ने इसका विस्तार करने के लिए वेद, आयुर्वेद, कृषि और साधारण (आर्ट्स) महाविद्यालयों के बनाने का निश्चय किया। गुरुकुल से प्रेरणा लेकर देश के विभिन्न भागों में अन्य गुरुकुल भी खोले गये। १९२३ ई० में इस महाविद्यालय की शिक्षा और परीक्षा विषयक व्यवस्था के लिए एक शिक्षा-पटल बनाया गया।

२४ सितम्बर १९२४ ई० में गंगा नदी में बाढ़ आ जाने से गुरुकुल को मुसीबत का सामना करना पड़ा। भविष्य में बाढ़ के प्रकोप से सुरक्षा के लिए १ मई १९३० ई० को गुरुकुल का गंगा के पूर्वी तट से पश्चिमी तट पर स्थानान्तरण कर दिया गया। १९३५ ई० में इसकी व्यवस्था के लिए एक पृथक् विद्यासभा का संगठन, आर्य प्रतिनिधि सभा के अन्तर्गत हुआ।

गुरुकुल शिक्षा-पद्धति की निम्नलिखित प्रमुख विशेषतायें हैं:-

विद्यार्थियों का गुरुओं के सम्पर्क में, उनके कुल का परिवार का अंग बनकर रहना।

ब्रह्मचर्य पूर्वक सरल एवं तपस्यामय जीवन बिताना।

चरित्रनिर्माण और शारीरिक विकास पर बौद्धिक एवं मानसिक विकास की भाँति पूरा ध्यान देना।

शिक्षा में संस्कृत को अनिवार्य बनाना तथा वैदिक वाङ्मय के अध्ययन पर बल देना।

शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हिन्दी बनाना, संस्कृत, वेद आदि प्राचीन विषयों के अध्ययन के साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और अंग्रेजी की पढ़ाई तथा राष्ट्रीयता की भावना का विकास करना।

गुरुकुल की शिक्षा प्रणाली में इन विशेषताओं के महत्त्व देना, उस समय की शिक्षा में एक क्रान्तिकारी काम था। हिन्दी को उच्चशिक्षा का माध्यम बनाना भी उस समय असम्भव-सा था।

गुरुकुल के अध्यापकों तथा प्राध्यापकों ने रसायन, भौतिक विज्ञान, वनस्पति शास्त्र, मनोविज्ञान, विकासवाद आदि विषयों पर हिन्दी में सर्वप्रथम पुस्तकें लिखीं। मातृभाषा द्वारा शिक्षण के इस परीक्षण को देखने के लिए १९१८ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय के आयोग के प्रधान डॉ. सैडलर, सर आशुतोष मुकर्जी, श्रीनिवास शास्त्री आदि यहाँ पधारे और हिन्दी के माध्यम को देखकर प्रभावित हुए।

गुरुकुल ने हिन्दी साहित्य को अनेक यशस्वी पत्रकार, लेखक और साहित्यकार प्रदान किये हैं तथा संस्कृत एवं वैदिक वाङ्मय क अनुशीलन, अध्ययन, अध्यापन को विलक्षण प्रोत्साहन दिया और इस प्रकार विभिन्न प्रकार से गुरुकुल ने सभी राष्ट्रीय और समाज सुधार के आन्दोलनों में भाग लिया।

इस समय गुरुकुल काँगड़ी में वेद-वेदाङ्ग, संस्कृत, दर्शनशास्त्र, इतिहास, मनोविज्ञान, अंग्रेजी, हिन्दी, योग, पत्रकारिता तथा वैज्ञानिक विषयों की उच्चशिक्षा के साथ-साथ कम्प्यूटर और प्रबन्धन की उच्चशिक्षा का भी प्रबन्धं है। स्नातक होने के बाद वेदालङ्कार, विद्यालङ्कार, B Sc आदि की उपाधियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। इसके बाद विभिन्न विषयों में दो वर्ष का स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम है। इसको पास करने पर M A , M Sc की उपाधियाँ प्रदान की जाती हैं। पी-एच०डी० की उपाधि से अनुसन्धान कर्त्ताओं को विभूषित किया जाता है। इसके अतिरिक्त विद्यामार्तण्ड की मानद उपाधि विशिष्ट विद्वानों को ही दी जाती है।

देश की सरकार ने गुरुकुल काँगड़ी द्वारा प्रदान की जाने वाली उपाधियों को स्वतन्त्रता के बाद मान्यता प्रदान कर दी। विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं प्रान्तीय सरकारों द्वारा भी उन्हें मान्यता प्राप्त है। १९६१ ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब से पृथक् संस्था के रूप में गु©कुल काँगड़ी का संगठन बना और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने इसे विश्वविद्यालय जैसी संस्था (Deemed to be university) स्वीकार कर लिया।

यह गुरुकल आधुनिक भारतीय शिक्षा में एक अनूठा प्रयोग होने के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके द्वारा प्राचीन भारतीय संस्कृति और शिक्षा की रक्षा हुई है। गुरुकुल ने देश में राष्ट्रीयता का विकास किया है। पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान और भारतीय विद्या के बीच समन्वय स्थापित करने के प्रयास गुरुकुल ने किया है, जो कि अत्यन्त सराहनीय है।

डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री

रीडर वेदविभाग

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार-२४९४०४

एवं

डॉ. नवनीत प्रभात

सूक्ष्मजीवविज्ञान विभाग

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार-२४९४०४

पाणिनि-व्याकरण और गुरुकुल शिक्षा-पद्धति

डॉ. राम प्रकाश शर्मा

आधुनिक युग में अर्थात् पुनर्जागरण काल में जब महर्षि दयानन्द सरस्वती ने गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की आवश्यकता और उपयोगिता प्रतिपादित की, तब उस शिक्षा-पद्धति के पाठ्यक्रम का मुख्य अङ्ग **पाणिनि-व्याकरण** को बनाया गया। वर्त्तमान युग में जितने भी गुरुकुल स्थापति किये गये, जहाँ उनकी प्रथम विशेषता संस्कृत और हिन्दी के माध्यम से शिक्षा देना रहा है, वहीं संस्कृत को सुदृढ़ आधार प्रदान करने तथा वेद और उसके वेदार्थ को सुबोध बनाने के लिए वेदरूपी पुरुष के मुख व्याकरण को अनिवार्य रूप से अध्ययन का विषय बनाया गया है। यद्यपि पाणिनि से पूर्व **''नवं व्याकरणं स्मृतम्''** एक नहीं, दो नहीं, नौ व्याकरण उपलब्ध थे, पर वे सब शब्दसिद्धि और वेदार्थ की दृष्टि से अपूर्ण थे। इसके अतिरिक्त उनकी गठनशैली भी शिथिल त्रुटिपूर्ण थी। अत: वे पाणिनि-व्याकरण के समक्ष कहीं टिक न सके और इस कारण काल कवलित हो गये। पाणिनि के सूक्ष्म चिन्तन, सुपरिपक्व ज्ञान एवं विलक्षण प्रतिभा का निदर्शन कराने वाले इस पाणिनीय व्याकरण से देववाणी गौरवान्वित हुई है। यह निर्विवाद रुप से कहा जा सकता है कि विश्व में किसी भी भाषा का ऐसा परिष्कृत और परिपूर्ण व्याकरण नहीं है, जैसाकि संस्कृत का है।

केवल लौकिक शब्दों के लिए नहीं, अपितु वैदिक शब्दों की दृष्टि से भी पाणिनि-व्याकरण की उपयोगिता सिद्ध है। यह कहना सारगर्भित प्रतीत होता है कि यदि पाणिनि-व्याकरण का गठन केवल लौकिक शब्दों को ध्यान में रखकर किया जाता तो उसके रूप अथवा आकार को आधा किया जा सकता था। पाणिनि-व्याकरण के प्रत्यय जैसे-अण्, ण, अञ् आदि की रूपसिद्धि की दृष्टि से समान उपयोगिता है, इनमें केवल अनुबन्ध की भिन्नता है। इनमें से किसी एक के कह देने से भी उक्त प्रकार के रूप सिद्ध किये जा सकते थे। लेकिन वैदिक स्वरों को ध्यान में रखकर ही पाणिनि को एक के स्थान पर तीन या उससे

अधिक प्रत्यय कहने के लिए विवश होना पड़ा है। इस प्रकार पाणिनि-व्याकरण का मुख्य लक्ष्य वैदिक साहित्य है। इसके अतिरिक्त पाणिनि का शब्दशास्त्र न केवल व्याकरण का प्रतिपादन करता है, अपितु भूगोल-इतिहास-मुद्राशास्त्र आदि विषयों के ज्ञान के लिए भी इस शास्त्र की महती उपयोगिता है, ऐसा सभी विद्वान् अनुभव करते हैं। पाणिनि-व्याकरण की अष्टाध्यायी एवं उससे सम्बन्धित साहित्य में सामाजिक जीवन, विभिन्न परम्परायें, मनुष्यों एवं स्थानों के नाम, मनुष्य के गोत्रादि, व्यापार-व्यवसाय-वाणिज्य, नगर, ग्राम तथा अरण्यस्थित बस्तियों के नाम, पशुओं की विभिन्न जाति और उपजातियों आदि के नामों का व्यापक उल्लेख हुआ है, जिसका सूक्ष्म अध्ययन तत्कालीन समाज के ज्ञान एवं संस्कृत वाङ्मय की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस विशाल शब्दसागर को व्याकरण के कुछ सूत्रों द्वारा नियम में आबद्ध कर देना पाणिनि के ही बस का काम था। व्याकरणशास्त्र के प्रमाणसिद्ध आचार्य पाणिनि, पवित्रासन पर विराजमान हो पूर्व दिशा की ओर मुख करके प्रयासपूर्वक सूत्रों की रचना करते थे, उन्होंने वर्णमात्र का भी अनर्थक प्रयोग नहीं किया है। पाणिनि के विषय में आचार्य पतञ्जलि कहते हैं:-''**प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचावकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राऽशक्यं वर्णेनाऽप्यनर्थकेन भवितुम्, किं पुनरियता सूत्रेण।**''[१] इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर आचार्य पतञ्जलि कहते हैं:- ''**सामर्थ्ययोगात् न हि किञ्चिदस्मिन् पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्।**''[२]

अष्टाध्यायी के मूर्धन्यवृत्तिकार जयादित्य '**उदक् च विपाशः**'[३] सूत्र पर कहते हैं- '**महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य।**'[४] कि सूत्रकार पाणिनि की दृष्टि अति सूक्ष्म है। पाणिनि के व्याकरण में शब्द और अक्षर के लाघव की बात तो दूर की है, मात्रा एवं अनुस्वार तक के लाघव पर भी अतिसूक्ष्म ध्यान दिया गया है

---

१. पतञ्जलि, व्याकरणमहाभाष्य, १.१.१.

२. महा० ६.१.७७.

३. अष्टा० ४.२.७४.

४. काशिका, ४.२.७४.

पाणिनि व्याकरण के विषय में मोनियर विलियम्स का कथन है कि संस्कृत-व्याकरण मानव-मस्तिष्क की अद्भुत रचना है, ऐसी रचना आज तक विश्व में अन्यत्र कहीं नहीं प्रस्तुत की जा सकी है।[१] जर्मन देशवासी मैक्समूलर का मन्तव्य है कि भारतीय आर्यों की व्याकरण सम्बन्धी योग्यता संसार में किसी भी जाति के व्याकरण की अपेक्षा उन्नततर है।[२] कोलब्रुक महोदय कहते हैं कि व्याकरण के नियम नितान्त सावधानीपूर्वक प्रणीत हैं, उनके प्रतिपादन की रीति अत्यन्त प्रतिभापूर्ण है। हण्टर महाशय का मत है कि संसार में जितने व्याकरण हैं, उनमें पाणिनीय व्याकरण उत्कृष्टतम है। उसकी वर्णशुद्धता, भाषा का धातु के साथ सम्बन्ध और प्रयोगविधि अद्वितीय और अपूर्व है। यह मानवमस्तिष्क का नितान्त महत्त्वशाली आविष्कार है।

पं० युधिष्ठिर मीमांसक पाणिनि-व्याकरण के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं:-'पाणिनीय व्याकरण को अकालक कहा जाता है। क्योंकि कालविषयक परिभाषा से यह परे है। पाणिनि-व्याकरण की महत्त्वपूर्ण विशेषतायें निम्न हैं:-

१. पाणिनि व्याकरण की प्रथम महत्त्वपूर्ण विशेषता संक्षेप में नियम बनाने के लिए सूत्र-पद्धति को अपनाना है।

२. पाणिनि व्याकरण की द्वितीय महत्त्वपूर्ण विशेषता अनुवृत्ति है। जो बात एक बार एक सूत्र में कह दी गई है, दुबारा अग्रिम सूत्रों में उसे न कहना पड़े, एतदर्थ पाणिनि ने अनुवृत्ति-व्यवस्था का आयोजन किया है।

३. पाणिनि व्याकरण की तृतीय महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि पाणिनि ने प्रत्यय, आदेश, आगम, धातु आदि में अनुबन्ध का विधान किया है। इससे जहाँ एक ओर विहित कार्यों का निर्देश किया जाता है, वहीं स्वरनिर्धारण में भी इसकी महती उपयोगिता है।

---

१. द्र० रमाशङ्कर मिश्र, महान् भारत, पृ०१४३-५०.सं०१९९३ वि०।

२. द्र० रमाशङ्कर मिश्र, महान् भारत, पृ०१४९-५०.सं०१९९३ वि०।

४. पाणिनि व्याकरण की चतुर्थ महत्त्वपूर्ण विशेषता संज्ञा-विधान है। पाणिनि ने अनुनासिक, पद, वृद्धि, गुण, प्रातिपदिक आदि संज्ञाओं का विधान किया है। इससे नियम को सुव्यवस्थित करने में सरलता होती है।

५. पाणिनि व्याकरण की पञ्चम महत्त्वपूर्ण विशेषता प्रत्याहार-विधान है। इसका प्रयोग करके पाणिनि ने नियमों को संक्षिप्त रूप प्रदान किया है। यह विशेषता पाणिनि-व्याकरण का आधार मानी जाती है। यह एक ऐसी पद्धति है, जिसके द्वारा पाणिनि ने कोड (गुप्त संकेत) तैयार किये हैं। इन गुप्त संकेतों को समझे विना पाणिनि व्याकरण को समझा ही नहीं जा सकता।

६. पाणिनि व्याकरण की षष्ठ विशेषता आदेशविधि है। किसी के स्थान पर किया जाने कार्य पाणिनि के शास्त्र में **आदेश** कहा जाता है। जैसे-**जस्** के स्थान पर होने वाले **शी** को आदेश कहा जाता है।

७. पाणिनि व्याकरण की सप्तम विशेषता **आगमविधि** है। आगम-विधान किसी के स्थान पर न होकर पृथक् से होता है। जैसे-**इट्** का आगम किसी स्थान पर नहीं होता, इसलिए यह आगम कहलाता है।

८. समास-विधान पाणिनि की एक अन्य विशेषता है। पाणिनि ने समास को त्रिविध प्रतिपादित किया है:-**अव्ययीभाव, तत्पुरुष, बहुव्रीहि।**

९. कारक-विधान भी पाणिनि का एक वैशिष्ट्य है। पाणिनि ने अपने व्याकरण में छ: कारक तथा सात विभक्तियों का विधान किया है।

१०. पाणिनि का प्रत्ययविधान लगभग अष्टाध्यायी के आधे भाग में फैला हुआ है। पाणिनि ने प्रमुखत: द्विविध प्रत्यय का विधान किया है। प्रथम **कृदन्त** द्वितीय **तद्धित**। धातु से होने वाले प्रत्यय **कृदन्त** तथा प्रातिपदिक से होने वाले प्रत्यय **तद्धित** कहलाते हैं। उपर्युक्त **प्रकारद्वय से भिन्न भी कुछ प्रत्यय प्राप्त होते हैं, जैसे-सुबन्त तथा स्त्रीलिङ्ग विधायक प्रत्यय।**

११. पाणिनि व्याकरण की अन्यतम विशेषता **स्वरविधान** है। पाणिनि ने स्वरविधान को सिद्ध करने की दृष्टि से प्रत्यय में अनुबन्ध तथा धातु सम्बन्धी कुछ नियम निर्धारित किये हैं।

इस प्रकार अन्य अनेक विशेषतायें पाणिनि-व्याकरण की हैं, जिसको यहाँ स्थान अभाव से बताना सम्भव नहीं है। लेकिन महर्षि दयानन्द ने गुरुकुल शिक्षा-पद्धति के लिए पाणिनि-व्याकरण की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए एक तथ्य की ओर विशेष ध्यान दिलाया है कि पाणिनि-व्याकरण का लाभ उसीको मिल सकता है जो इस व्याकरण को अष्टाध्यायी क्रम से पढ़ता है। इस व्याकरण की वैज्ञानिकता और सरलता अष्टाध्यायी क्रम में ही निहित है। सिद्धान्त कौमुदी आदि प्रक्रिया ग्रन्थों, जिनमें अष्टाध्यायी के सूत्रों का क्रमभङ्ग करके वृत्तियाँ लिखी गयी हैं, में अष्टाध्यायी क्रम के न होने से अनुवृत्ति का बोध नहीं होता, फलस्वरूप पारङ्गत होने के लिए व्याकरण का रटना अपरिहार्य हो जाता है। इस कारण व्याकरण सरल न होकर दुरूह हो जाता है और उसका उद्देश्य धूमिल पड़ जाता है। इस प्रकार व्याकरण सीखना लोहे के चने के समान कठिन हो जाता है, जैसे-'**विप्रतिषेधे परं कार्यम्**'[१], '**असिद्धवदत्राऽभात्**'[२], '**पूर्वत्रासिद्धम्**'[३] जैसे सूत्रों की उपयोगिता का समझ पाना तीन काल में भी सम्भव नहीं। जिसे अष्टाध्यायी के क्रम सूत्र से याद नहीं, वह '**सपादसप्ताध्यायी**' के बाध्यबाधक भाव को, कार्यों की असिद्धता को अथवा तुल्य बल विरोध होने की स्थिति में परसूत्र लागू होता है, इत्यादि कैसे जान सकता है? इसी प्रकार क्रमभङ्ग करके पढ़ने पर विधि एवं निषेध के सूत्रों का भी सामान्य ज्ञान उसको नहीं हो सकता। वह नहीं जान सकता कि '**हलन्त्यम्**'[४] सूत्र की उपस्थिति में '**भ्याम्**' को मकार एवं

---

१. अष्टा० ६.१.७७.

२. अष्टा० १.४.२२.

३. अष्टा० ८.२.१.

४. अष्टा० १.३.३.

'भ्यस्' के सकार का लोप क्यों नहीं होता? क्योंकि **'न विभक्तौ तुस्माः'**[१] निषेध सूत्र जो अष्टाध्यायी में **'हलन्त्यम्'** के साथ ही पढ़ा था, उसे इन प्रक्रिया गन्थों में क्रमभङ्ग करके कहीं और डाल दिया; अतः विधि एवं निषेध का पारस्परिक सम्बन्ध विद्यार्थी के मस्तिष्क में स्थिर नहीं रह पाता है।

इस प्रकार पाणिनि-व्याकरण का विशेष महत्त्व उसी आर्ष प्रक्रिया से अध्ययन करने में ही है, अन्यथा लाघव एवं सूक्ष्म अर्थ बोध कराने में पाणिनीय सूत्रों की अपूर्व क्षमता होने पर भी विद्यार्थी के लिए वे केवल तोता रटन्त रह जाते हैं।

शब्दशास्त्र सम्बन्धी अष्टाध्यायी प्रणयन के इस अपूर्व कार्य को देखकर पाणिनि का यश तत्कालीन समाज में वैयाकरण समुदाय के बच्चे-बच्चे में फैल चुका था। काशिकावृत्तिकार जयादित्य के **'आङ् मर्यादाभिविध्योः'**[२] सूत्र के **'आ कुमारं यशः पाणिनेः'** उदाहरण से सिद्ध होता है।

यह एक दुर्भाग्य का ही विषय है कि इस महावैयाकरण का जीवनवृत्त संस्कृत में लगभग अज्ञात है। उन्होंने अपने शास्त्र में अपना जरा सा भी परिचय नहीं दिया है, परन्तु उनके नाम से यह प्रतीत होता है कि उनके दादा अथवा वंश प्रवर्त्तक का नाम पणिन् था। पणिन् के युवापत्य का नाम पाणिनि[३] होता है। बौधायन श्रौतसूत्र के महाप्रवर काण्ड के अनुसार पाणिनि वत्स भृगुओं के अन्तर्गत एक अवान्तर गोत्र का नाम था। इसकी माता का नाम दाक्षी था, यह महाभाष्य में वर्णित एक श्लोक से प्रकट होता है। **'सर्वे सर्वपदादेशाः दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः'**[४] तथा **'शङ्करः शाङ्करी प्रादाद् दाक्षीपुत्राय धीमते'**[५] इस महाभाष्य और

---

१. अष्टा० १.३.४.

२. अष्टा० २.१.१३.

३. पणिनोऽपत्यं पाणिनः, तस्यापत्यं युवा पाणिनिः।

४. पतञ्जलि-व्याकरण-महाभाष्यम् १.१.२०.

५. पाणिनीय शिक्षा, ५६.

पाणिनीय शिक्षा के वचनों से ज्ञात होता है कि पाणिनि की माता दक्ष कुल की थीं, इसलिए वह शास्त्रकारों के द्वारा दाक्षी नाम से अभिहित हुई हैं। विद्वान् यह सम्भावना व्यक्त करते हैं कि दाक्षी का ही एक अन्य नाम **'व्याड्या'** भी था। पाणिनि ने व्याडि शब्द को क्रोड्यादिगण में पढ़ा है, उससे स्त्रीलिङ्ग में ष्यङ् तथा टाप् प्रत्यय होकर **व्याड्या** रूप सिद्ध होता है।[१] उपर्युक्त विवेचन से यह अनुमान होता है कि पाणिनि की माता का गोत्र के आधार प्राप्त नाम **दाक्षी** तथा उनका मूल नाम **व्याड्या** था। इसी प्रकार महाभाष्यकार ने अनेकशः सङ्ग्रहकार व्याडि को **दाक्षायण** कहकर पुकारा है। इस आधार पर पं० युधिष्ठिर मीमांसक यह निष्कर्ष ग्रहण करते हैं कि व्याडि पाणिनि के मामा थे।

पाणिनि का जन्म **'शलातुर'** नामक स्थान में बताया जाता है। चीनी यात्री श्यूआन् चुआङ् ने सप्तम शताब्दी के आरम्भ में अपने भ्रमण के पश्चात् अपनी यात्रा का विवरण देते हुए बताया है कि **'शलातुर ही वह स्थान है, जहाँ पाणिनि का जन्म हुआ तथा जिन्होंने शब्दशास्त्र की रचना की थी।'** इस शलातुर की पहिचान **'लहुर'** नामक गाँव से की गयी है, जो कि उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त में काबुल और सिन्धु के संगम से कुछ दूर पर अवस्थित है। यह स्थान देखने में बहुत ऐतिहासिक प्रतीत होता है।

ऐसा माना जाता है कि पाणिनि की शिक्षा तक्षशिला विश्वविद्यालय में हुई थी। उस समय यह विश्वविद्यालय अत्यन्त प्रसिद्ध था। वहाँ से बहुत से लोग अनेक विषयों में पारङ्गत होकर निकले, जिन्होंने सम्पूर्ण दक्षिण एशिया में अपने वैदुष्य की धूम मचायी। वहाँ पर सभी विषयों की शिक्षा बड़ी गहराई से दी जाती थी तथा छात्र को योग्य बनाने का प्रयत्न किया जाता था। ऐसे स्थान से पाणिनि शिक्षा प्राप्त करके निकले हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

पुनर्जागरण के पुरोधा महर्षि दयानन्द के गुरु स्वामी विरजानन्द दण्डी ने १९वीं शताब्दी में पाणिनि के महत्त्व की पुनः स्थापना के लिए स्वयं 'अष्टाध्यायी' पर भाष्य लिखा, व्याकरण के लिए केवल **अष्टाध्यायी** को ही **आर्ष ग्रन्थ** घोषित किया एवं अपनी पाठशाला में

१. अ०४.१.८०. क्रोड्यादिभ्यश्च।

ऋषि दयानन्द जैसे शिष्यों को अष्टाध्यायी द्वारा ही संस्कृत व्याकरण की शिक्षा दी। उसी शिक्षा के आधार पर महर्षि दयानन्द ने वेदभाष्य का कार्य किया और व्याकरणशास्त्र को सर्वजन सुलभ बनाने हेतु वेदाङ्ग प्रकाश लिखकर 'अष्टाध्यायी' को जनसामान्य तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। श्रद्धेय गुरुवर पं० ज्योति:स्वरूप जी के गुरु श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी ने भी उसी परम्परा को आगे बढ़ाया और सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर अष्टाध्यायी क्रम से अष्टाध्यायीभाष्य लिखा। पाणिनि व्याकरण अनुपम, अप्रतिम और अद्वितीय है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने गुरुकुलों की पाठविधि हेतु इसका चयन करके दूरदर्शिता का परिचय दिया है। वेद के सम्बन्ध में जो कुछ काम आज सम्भव हो पा रहा है, उसका श्रेय इसी परम्परा को है। अत: मैं पाणिनि और उसको आधार बनाकर चलने वाली गुरुकुल परम्परा को नमन करता हूँ।

डॉ. राम प्रकाश शर्मा

रीडर संस्कृत-विभाग

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार.

उपनिषदों में वर्णित शिक्षा का दिग्दर्शन

डॉ. मनुदेव बन्धु

वैदिक वाङ्मय में वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदाङ्ग और उपाङ्ग आते हैं। यदि वेदों की कर्मकाण्डात्मक व्याख्या ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों में उपलब्ध है तो वेदों की ज्ञानकाण्डात्मक व्याख्या उपनिषदों में विराजमान है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में उपनिषदों का अतिमहत्त्वपूर्ण स्थान है और उन्हें मोक्षशास्त्र के रूप में मान्यता प्राप्त है। त्रिविध तापों से मुक्ति उपनिषदों के अध्ययन से सम्भव है। उपनिषदों के अध्ययन से अविद्या का नाश होता है, ज्ञान की प्राप्ति होती है और जन्म-मरण का बन्धन शिथिल होता है। जीवन की सान्ध्य वेला में साधक को उपनिषदों का श्रवण और मनन करना चाहिये। बृहदारण्यकोपनिषद् का अमर वाक्य हमें जीवन में उन्नति प्राप्त करने का संदेश देता है-"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति।" जीवन में चरम लक्ष्य की प्राप्ति हेतु हमें आत्मा और परमात्मा को देखना, सुनना, मनन करना और ध्यान करना चाहिये। उपनिषदों में जहाँ आत्मा, परमात्मा और प्रकृति का सर्वाङ्गीण चित्रण किया गया है, वहीं पर शिक्षा के विविध मानदण्डों को भी समझाया गया है। उपनिषदों में शिक्षा और तत्कालीन समाज के शैक्षणिक जीवन पर अतिविस्तृत रूप से विचार किया गया है।

शिक्षा का स्वरूप

उपनिषदों में शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य मुक्ति प्राप्त करना है। इस कारण इसके दो पक्ष हैं-परा और अपरा। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष का सम्बन्ध अपरा विद्या से है। परा विद्या का सम्बन्ध अक्षर ब्रह्म से है।[१]

---

१. मुण्डकोपिषद् १.१.५.

दोनों में कोई पारस्परिक वैमनस्य भी नहीं है। ऐहिक जीवन में वेद तथा वेदाङ्गों की महनीयता आवश्यक है। तत्कालीन समाज में शिक्षा के द्वारा ब्रह्मज्ञान कराया जाता था। नारद मन्त्रवित् थे, उन्होंने उक्त सभी विषयों का परिज्ञान आत्मसात् कर लिया था। किन्तु वे आत्मवित् नहीं थे, अतः वे आत्मज्ञान की प्राप्ति हेतु गुरु सनत्कुमार के पास गये थे।

शिक्षा शब्द का प्रयोग एवम् अर्थ

शिक्षा शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम हमें बृहदारण्यकोपनिषद् में मिलता है।[१] इसका अर्थ सीखना है। शिक्षा शब्द "शिक्ष विद्योपादाने" धातु से बनता है, जिसका प्रयोग विद्या-ग्रहण के लिये हुआ है।[२] शिक्षा शब्द सङ्कुचित, विस्तृत और उभयविध अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। आचार्य शङ्कर के मतानुसार जिसके द्वारा वर्णादि का उच्चारण सीखा जाए, वह शिक्षा है। अथवा जिससे वर्णादि सीखे जायें, वह शिक्षा है।[३] इस विवेचन के मूल में सीमित दृष्टि का निर्वाह हुआ है। उपनिषत्काल में केवल वर्णादि की शिक्षा ही नहीं थी, अपितु तत्कालीन शिक्षा में दम, दान और दया सदृश आत्मिक गुणों के विकास का प्रावधान भी सन्निविष्ट था।[४] स्वाध्याय तथा प्रवचन से प्रमाद न करने का विधान व्यक्ति को उच्छृङ्खल नहीं होने देता था। इस अर्थ में तत्कालीन शिक्षा ऐसी प्रक्रिया थी जो जीवन पर्यन्त चलती रहती थी। इसकी पूर्णता तब होती थी जब व्यक्ति आत्मसाक्षात्कार कर लेता था।

उत्तम आचरण

उपनिषदों में शिष्यों के माङ्गलिक जीवन की कामना के साथ उनके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये आचार्यों द्वारा प्रयास किया जाता था। शिष्य को प्रारम्भ से ही ब्रह्मचर्य पालन

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद् ५.२.३. शिक्षेद् दमं दानं दयामिति।

२. धातु० भ्वादिगण, शिक्ष विद्योपादाने।

३. शाङ्करभाष्य, तैत्तिरीयोपनिषद् १.२.१.

४. बृहदारण्यकोपनिषद् ५.२.३.

द्वारा आन्तरिक शुद्धि का अभ्यास कराया जाता था। सत्य बोलने का उपदेश दिया जाता था। अपने गुरुजनों के प्रति सम्मान की भावना तथा संशयात्मक स्थिति में उनके बताये मार्ग के अनुसार चलने का आदेश दिया जाता था। इस आचार्योपदेश को विधिपद द्वारा अभिव्यक्त किया जाता था।[१]

धार्मिक विकास

आचार्य कुलों में यज्ञ-यागादि निरन्तर होते थे। अत: शिष्यों को याज्ञिक परम्परा से अवगत कराया जाता था। देवकार्य और पितृकार्य से प्रमाद न करने का उपदेश भी इस बात का द्योतक है कि जीवन में जिन देवजनों से प्रकाश तथा ज्ञान प्राप्त होता है, उनको विस्मृत न किया जाये।[२] बड़े-बड़े यज्ञों के समाराहों में आचार्य शिष्यों को भी ले जाया करते थे।[३] आवश्यकता पड़ने पर वे इन कार्यों में सहयोग भी प्रदान करते थे। याज्ञवल्क्य अपने शिष्यों को जनक के यहाँ आयोजित यज्ञ के अवसर पर साथ ले गये थे। धार्मिक दृष्टि से समुन्नत करने हेतु शिष्यों को धर्माचरण का उपदेश दिया जाता था। उनसे अपेक्षा की जाती थी कि वे धर्म से प्रमाद न करें।[४]

सम्पर्क

तत्कालीन समाज में साहित्य मौखिक ही था। लिखित साहित्य का सङ्केत नहीं मिलता है। वाक्परम्परा से ही इसका सम्वर्धन होता था। वाङ्मय की महिमा उपनिषदों में अनेक प्रकार से वर्णित है। वाक् से बढ़कर विज्ञान को महत्ता प्रदान की गयी थी।[५] विभिन्न अवसरों

---

१. तै०उप० १.११.१.

२. तै०उप० १.११.२. देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।

३. बृह०उप० ३.१.२. याज्ञवाल्क्य: स्वयमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैता गा: सौम्योदज सामश्रवा३ इति।

४. तै०उप० १.११.२. धर्मं चर। धर्मान्न प्रमदितव्यम्।

५. छा०उप० ७.२.१.

पर स्तोत्रों का पाठ होता था।[१] तत्कालीन समाज में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, उपनिषद्. श्लोक, सूत्र, व्याख्यान इत्यादि का उच्चकोटि के साहित्यों में महत्वपूर्ण स्थान था। इसके साथ यह भी मान्यता थी कि ये सभी साहित्य प्रभु की अनुपम देन हैं।[२]

पाठ्यक्रम

उपनिषदों में पाठ्यविषयों की बहुलता इस बात को सिद्ध करती है कि आत्मा के विवेचन के साथ ही साथ अन्य विषयों का भी चिन्तन होता था। इन विषयों के ज्ञाता को सम्भवतः मन्त्रवित् कहते थे। पाठ्यविषयों में वेदचतुष्टय, इतिहास, पुराण, व्याकरण, अङ्कगणित, ऋतुविज्ञान, वादविवाद, देवविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, नृत्यविद्या, सर्पविद्या, संगीतविद्या, वाद्यविद्या, युद्धविद्यादि विद्याएँ अनिवार्य रूप से रखी गयी थीं।[३] ब्रह्मविषयक वादविवाद ब्रह्मोद्य कहलाते थे।[४] अतः उसमें दक्षता प्राप्त करने के लिये तर्कशास्त्र का अध्ययन अपेक्षित था। शङ्कराचार्य **वाकोवाक्य** का अर्थ **तर्कशास्त्र** करते हैं।[५] मद्रदेश में काप्य पतञ्जल के यहाँ यज्ञशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन होता था। आरुणि उद्दालक ने वहाँ आकर इसका अध्ययन किया था। [६]

शिक्षण-पद्धति

तत्कालीन समाज में शिक्षा देने की अनेक पद्धतियाँ थीं। जिसमें कण्ठस्थ करने की पद्धति, प्रवचन, व्याख्यान, प्रश्नानुप्रश्न आदि प्रयोगात्मक पद्धतियाँ थीं। याज्ञवल्क्य का कथन था कि मैं व्याख्यान करूँगा।[७] तुम मेरे व्याख्यान वाक्यों का चिन्तन करना।[१] व्याख्यानों को

---

१. बृह०उप० २.३.१०.

२. बृह०उप० २.४.१०.

३. छा०उप० ७.१.२.

४. बृह०उप० ३.१.१.

५. छा०उप० ७.१.२.

६. बृह०उप० ३.७.१. मद्रेष्ववसाम पतञ्जलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानाः।

७. बृह०उप० ४.२.२. व्याख्यास्यामि ते। व्याचक्षाणस्य तु ते निदिध्यासस्व।

रोचक बनाने के लिये दृष्टान्तों का आश्रय लिया जाता था। दैनन्दिन जीवन के प्रसङ्गों में पाये जाने वाले तत्त्वों को दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किया जाता था। उदाहरणार्थ-आत्मा से जगत्सृष्टि बताते हुए कहा है कि जैसे मकड़ी तन्तुओं पर ऊपर की ओर जाती है तथा अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं। उसी प्रकार आत्मा से समस्त प्राण, लोक, देवगण तथा भूतादि विविधरूप से उत्पन्न होते हैं।[२] गार्गी ने याज्ञवल्क्य से ब्रह्मलोक के विषय में अतिप्रश्न करना आरम्भ कर दिया था, जिस पर याज्ञवल्क्य ने अतिप्रश्न न करने के लिये कहा। अतिप्रश्न करने से मस्तक कट जाने की बात कही गयी है।[३] अजातशत्रु गार्ग्य को हाथ पकड़कर सोते हुए पुरुष के पास ले जाता है। उसके नाम से पुकारने पर वह नहीं उठ पाया, किन्तु सुषुप्त पुरुष के हाथ को दबाकर जगाने से वह उठ खड़ा होता है। इस प्रकार अजातशत्रु के द्वारा पुरुष के अब्रह्मत्व की सिद्धि के लिये इसी विधि का आश्रय लिया गया है। उस युग में प्रयोगात्मक पद्धति का प्रयोग बहुलता से होता था।[४]

आचार्य के रूप में पिता

पिता को आचार्य के रूप में भी उपनिषदों में निर्दिष्ट किया गया है। श्वेतकेतु ने अपने पिता से शिक्षा ली थी। किन्तु क्षत्रियबन्धु प्रवाहण के पास आकर भी उसने अध्यात्म लाभ किया था।[५] पिता के आचार्यत्व में ही देवों, असुरों और मानवों की शिक्षा सम्पन्न हुई थी।[६] पिता स्वयं गायत्री उपदेश द्वारा ज्ञानारम्भ करता था। यह संस्कार पहले मौखिक स्वीकृति माना जाता था।[७]

---

१. बृह०उप० ४.२.२.
२. बृह०उप० २.१.१०.
३. बृह०उप० ३.७.१.
४. बृह०उप० २.१.१५-१६.
५. बृह०उप० ६.२.१.
६. बृह०उप० ५.२.१.
७. बृह०उप० ६.२.७.

चरक

बृहदारण्यकोपनिषद् में चरकों का उल्लेख हुआ है।[१] चरक विचरणशील विद्यार्थी थे, जो ज्ञानपिपासा के उपशमनार्थ एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते रहते थे। शङ्कराचार्य ने चरक के ही दो अर्थ ग्रहण किये हैं-१. अध्ययनार्थ विचरण करने वाले तथा २. यज्ञ सम्पादक अध्वर्यु।[२] प्रस्तुत प्रसङ्गों में चरक का अर्थ विद्यार्थी ही समीचीन प्रतीत होता है। यह भी प्रतीत होता है कि साधारण शिष्य चरक कोटि में नहीं आते थे। विद्वान् तथा सुशिक्षित जनों का अटनशील वर्ग ही चरक नाम से अभिहित होता था।[३]

विनय

विनय का साम्राज्य जैसा उपनिषदों में परिलक्षित होता है, वैसा शिक्षा के इतिहास में अन्यत्र दुर्लभ है। उसका कारण यह है कि इस युग में यदि किसी वस्तु की प्रतिष्ठा हुई है तो विद्या की ही है। विद्या से विनय की प्राप्ति होती है।[४] देव, मनुष्य और असुर विभिन्न स्वभाव के होते हुए भी विद्याप्राप्ति हेतु आचार्य के निकट विनम्र भाव से समुपस्थित हुए थे।[५] उनको पूर्णरूप से परिज्ञान था कि पिता प्रजापति विना विनयशीलता के समुचित ज्ञान का वितरण नहीं करेंगे। जनक सदृश विद्वान् राजन्य महर्षि याज्ञवल्क्य के ज्ञान से प्रभावित होकर विदेहों के साथ समर्पित होने में कोई सङ्कोच नहीं करते।[६] शिष्यों में उच्छृङ्खल मनोवृत्ति कहीं भी दिखाई नहीं देती। ज्ञानोपलब्धि हेतु ब्राह्मणों तक ने अपने स्वत्व की अवहेलना करते हुए क्षत्रियों के आगे अपने को समर्पित करने में कोई सङ्कोचानुभूति नहीं की थी।[७]

---

१. बृह०उप० ३.३.१. मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम।

२. बृह०उप० ३.१.१. चरका अध्ययनार्थं व्रतचरणाच्चरका अध्वर्यवो वा।

३. वैदिक इण्डेक्स, प्रथम खण्ड, पृ०२५८ तथा हिन्दु सभ्यता, पृ०१०९.

४. हितोपदेश, ६.

५ बृह०उप० ५.२.१.

६ बृह०उप० ४.१.६.

७ बृह०उप० २.१.१५.

शुल्क

आचार्य कुलों में शिष्यों से अध्यापन के निमित्त कोई शुल्क नहीं लिया जाता था। समित्पाणि होकर जिज्ञासु आश्रमों में आया करते थे।[१] आचार्यों को बड़ी-बड़ी दक्षिणाएँ दी जाती थीं। इन दक्षिणाओं से यह अर्थ लेना असङ्गत होगा कि शिक्षा के निमित्त इनकी अपरिहार्यता थी। विद्योपार्जन के अनन्तर शिष्य उन्हें उपहार अवश्य देते थे। ऐसी मान्यता थी कि आचार्य शिष्य को विना उपदिष्ट किये उससे धन नहीं ले सकते थे।[२] राजा जनक[३] और जनश्रुति[४] द्वारा प्रदान किये जाने वाले उपहारों से निस्सन्देह यह प्रतीत होता है कि आचार्य कुलों को सम्पन्न बना देने का प्रयास राजन्यों द्वारा किया जाता था। इन उपहारों की तुलना शुल्क (फीस) से करना असङ्गत है।

शिक्षा और समाज

उपनिषदों में शिक्षा के प्रति समाज बड़ा जागरूक दिखाई देता है। स्वाध्याय और प्रवचन समाज के प्रत्येक घटक के लिये अनुष्ठेय था।[५] इस तरह शिक्षा को जीवन का अविभाज्य अङ्ग बनाकर ऋषियों ने समाज को बौद्धिक दृष्टि से बड़ा ही सम्पुष्ट किया था। कोरी आस्था और विश्वास से जी पाना उस युग में सम्भव न था। वस्तुतः यह युग आलोचना प्रधान था। प्रत्येक वस्तु की आध्यात्मिक व्याख्या होती थी। अत: शिक्षा की अनिवार्यता होने के कारण पिता अपने पुत्र और पुत्री के पण्डित होने की आकाङ्क्षा करते थे।[६] तत्कालीन

---

१ प्रश्नोपनिषद् १.१.

२. बृह०उप० ४.१.६. याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नानुशिष्य हरेतेति।

३. बृह०उप० ४.१.६.

४. छा०उप० ४.२.१.

५. तै०उप० १.९.९१.

६. बृह०उप० ६.४.१७-१८.

समाज में शिक्षाप्राप्ति के लिये व्यग्रता और उत्सुकता आबालवृद्धवनिता में दिखाई देती है। स्त्रियों का भी शिक्षा से घनिष्ठ सम्बन्ध था। महाविदुषी गार्गी याज्ञवल्क्य को शास्त्रार्थ हेतु खुला आमन्त्रण देती है।[१] मैत्रेयी आत्मज्ञानप्राप्ति हेतु अपने पति को प्रोत्साहित करती है।[२] इस प्रसङ्ग से नारी शिक्षा की पराकाष्ठा का द्योतन होता है।

शिक्षा और राज्य

शिक्षा के विकास में राज्य का महत्त्वपूर्ण स्थान था। राजा यज्ञ के अवसरों पर सम्मेलन आयोजित किया करते थे। जिनमें अनेक विद्वान् सुदूर प्रान्तों से आकर भाग लेते थे।[३] इन सम्मेलनों में शास्त्रार्थ होते थे और ये ब्रह्मविषयक होते थे। इसे ही ब्रह्मोद्य के रूप में वर्णित किया गया है।[४] राजाओं की परिषद् या समितियाँ स्वयं को ज्ञानचर्चा में लगाती थीं।[५] इन राज्य संस्थाओं में कहीं भी ज्ञान के अतिरिक्त कोई अन्य विषय विचारार्थ प्रस्तुत नहीं हुआ करते थे। जनक के यहाँ अधिकांश आचार्य उपस्थित होते थे। काशीराज भी यह चाहता था कि मेरे यहाँ भी बहुत से ब्राह्मण या आचार्य आयें।[६] इस प्रकार राजाओं द्वारा विद्वानों का बड़ा सम्मान होता था और उत्तम से उत्तम शिक्षा के प्रचार और प्रसार हेतु राज्य द्वारा सहायता दी जाती थी।

डॉ. मनुदेव बन्धु,
प्रोफेसर वेद-विभाग,
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय,हरिद्वार

---

१. बृह०उप० ३.८.२.
२. बृह०उप०२.४.३. येनाहं नामृता स्यां किमहं कुर्यां यदेव भगवन् वेद तदेव मे ब्रूहि इति।
३. बृह०उप०३.१.१.
४. बृह०उप०३.८.१.
५. बृह०उप०६.२.१.
६. बृह०उप०२.१.१.

स्वामी दयानन्द की दृष्टि में शिक्षा, शिक्षक एवं शिक्षार्थी

डॉ० उमा शर्मा

स्वामी दयानन्द का नाम लेते ही एक ऐसी दिव्य मूर्त्ति का स्वरूप आँखों के सामने आ जाता है, जिसने न केवल भारतीय अपितु पाश्चात्य विद्वज्जगत् को अपनी ओजस्विनी लेखनी, धीर, गम्भीर तथा शान्त व्यक्तित्व एवं सत्य तथा स्पष्ट वक्तृत्व से अपनी ओर आकर्षित करते हुए उनकी शङ्काओं को समूल नष्ट किया तथा उन्हें वेद की ओर आने के लिये प्रेरित भी किया। उन्होंने न केवल समाज सुधार की ही चर्चा की अपितु राष्ट्र के हित को ध्यान में रखते हुए नारी शिक्षा, अछूतोद्धार, विधवा विवाह, राजा तथा रंक सबके लिये समान शिक्षा का भी सूत्रपात स्वग्रन्थों में विस्तार से किया। शिक्षा, शिक्षक एवं शिक्षार्थी के गुण तथा कर्तव्यों को उन्होंने अपने ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर वर्णित किया है। इसका निरीक्षण हम निम्न रूप में शीर्षकों के अन्तर्गत क्रमशः कर रहे हैं।

शिक्षा की परिभाषा

शिक्षा के विषय में व्यवहारभानु तथा स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लिखा है कि जिससे मनुष्य विद्या आदि शुभ गुणों की प्राप्ति और अविद्यादि दोषों को छोड़ के सदा आनन्दित हो सकें, वह शिक्षा कहाती है। जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मा, जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवे और अविद्यादि दोष छूटें, उसको शिक्षा कहते हैं।

शिक्षक का स्वरूप

शिक्षक पद के स्थान पर स्वामी दयानन्द ने अपने अनेक ग्रन्थों में आचार्य, अध्यापक, पण्डित, विद्वान् आदि शब्दों का प्रयोग किया है। आचार्य पद की परिभाषा उन्होंने स्वग्रन्थों में तीन स्थलों पर देते हुए लिखा है-

क-जो साङ्गोपाङ्ग वेदविद्याओं का अध्यापन, सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे, वह आचार्य कहाता है।[१] ख-जो श्रेष्ठ आचार को ग्रहण कराके सब विद्याओं को पढ़ा देवे, उसको आचार्य कहते हैं।[२] ग-जो विद्यार्थी को अत्यन्त प्रेम से धर्मयुक्त व्यवहार की शिक्षापूर्वक विद्या देने के लिये तन-मन-धन से प्रयत्न करे, उसको आचार्य कहते हैं।[३]

स्वामी दयानन्दकृत उपर्युक्त आचार्य सम्बन्धी तीनों ही परिभाषाएँ आचार्य यास्क के आचार्य विषयक उस निर्वचन से मेल रखती हुई दिखाई देती हैं, जिसमें कहा है-'**आचार्य आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा।**'[४] अद्वयतारकोपनिषद् में भी इसी चर्चा को श्लोकबद्ध करते हुए लिखा है-

आचिनोति हि शास्त्रार्थानाचारस्थापनादपि।
स्वयमाचरते यस्तु तस्मादाचार्य उच्यते॥[५]

शिक्षक के स्थान पर अध्यापक पद का प्रयोग करते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आगे लिखा है कि-"**जो (अध्यापक पुरुष वा स्त्री) पूर्ण विद्यायुक्त धार्मिक हों, वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं।**"[६]

सत्यार्थ प्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में "**पढ़ानेहारे अध्यापक और अध्यापिका कैसे होने चाहिए**" इस विषय के विवेचन के क्रम में शिक्षक पद के स्थान पर पण्डित पद का प्रयोग करते हुए महाभारत उद्योगपर्व (विदुर प्रजागर) के आधार पर शिक्षक के लक्षणों को निम्नप्रकार प्रतिपादित किया है[७]-

---

१. स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश।
२. आर्योद्देश्यरत्नमाला।
३. व्यवहारभानुः।
४. निरु० १.४.
५. अद्वय०उप० ३.
६. सत्यार्थप्रकाश, समु० ३.
७. अ० ३३, श्लोक २०-२१, २७-२८, ३३-३४.

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते॥ १॥
निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते।
अनास्तिकः श्रद्दधान एतत् पण्डितलक्षणम्॥ २॥
क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति, विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्।
नासम्पृष्टो ह्युपयुङ्क्ते परार्थे, तत् प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य॥ ३॥
नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः॥ ४॥
प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान्।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते॥ ५॥
श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा।
असम्भिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः॥ ६॥

अर्थ-जिसको आत्मज्ञान सम्यक् आरम्भ अर्थात् जो निकम्मा आलसी कभी न रहे, सुख-दुःख, हानि-लाभ, मानापमान, निन्दा-स्तुति में हर्ष, शोक कभी न करे, धर्म ही में नित्य निश्चित रहे, जिसके मन को उत्तम-उत्तम पदार्थ अर्थात् विषय सम्बन्धी वस्तु आकर्षण न कर सकें, वही पण्डित कहाता है॥ १॥ सदा धर्मयुक्त कर्मों का सेवन, अधर्मयुक्त कामों का त्याग, ईश्वर, वेद, सदाचार की निन्दा न करनेहारा, ईश्वर आदि में अत्यन्त श्रद्धालु हो, यही पण्डित का कर्तव्याकर्तव्य कर्म है॥ २॥ जो कठिन विषय को भी शीघ्र जान सके, बहुत कालपर्यन्त शास्त्रों को पढ़े, सुने और विचारे, जो कुछ जाने उसको परमेश्वर में प्रयुक्त करे, अपने स्वार्थ के लिये कोई काम न करे, विना पूछे वा विना योग्य समय जाने दूसरे के अर्थ में सम्मति न दे, वही प्रथम प्रज्ञान पण्डित को जानना चाहिये॥ ३॥ जो प्राप्ति के अयोग्य की इच्छा कभी न कर, आपत्काल में मोह को न प्राप्त अर्थात् व्याकुल न हो, वही बुद्धिमान् पण्डित है॥ ४॥ जिसकी वाणी सब विद्याओं और प्रश्नोत्तरों के करने में अतिनिपुण, विचित्र

शास्त्रों के प्रमाणों का वक्ता, यथायोग्य तर्क और स्मृतिमान्, ग्रन्थों के यथार्थ अर्थ का शीघ्र वक्ता हो, वही पण्डित कहाता है॥५॥ जिसकी प्रज्ञा सुने हुए सत्य अर्थ के अनुकूल और जिसका श्रवण बुद्धि के अनुसार हो जो कभी अर्थात् श्रेष्ठ धार्मिक पुरुषों की मर्यादा का छेदन न करे, वही पण्डित संज्ञा को प्राप्त होवे॥६॥

जहाँ ऐसे-ऐसे स्त्री-पुरुष पढ़ाने वाले होते हैं, वहाँ विद्या, धर्म और उत्तमाचार की वृद्धि होकर प्रतिदिन आनन्द ही बढ़ता रहता है।

इसी प्रकार के श्लोक स्वामी दयानन्द ने व्यवहारभानुः नामक ग्रन्थ में भी बहुत उद्धृत किये हैं। शिक्षक के विषय में वेदभाष्य करते हुए उन्होंने बहुत स्थलों पर स्वलेखनी से हृदय के उद्गार प्रकट करते हुए लिखा है-

१. मनुष्यों को चाहिये कि जो विद्वान् सर्वत्र आनन्दित कराने और विद्या का देनेहारा सत्यगुण, कर्म और स्वभावयुक्त है, उसके संग से निरन्तर समस्त विद्या और उत्तम शिक्षा को पाकर सर्वदा आनन्दित होवें।[१]

२. ब्रह्मचर्याश्रम विद्यार्थियों को उन्हीं से विद्या और अच्छी शिक्षा लेनी चाहिये जो कि पहले विद्या पढ़े हुए सत्याचारी जितेन्द्रिय हों।[२]

३. जो रागद्वेषरहित, विद्याप्रचारप्रिय, पूर्ण शारीरिक और आत्मिक बल वाले धार्मिक विद्वान् हैं, उनको सब लोग विद्याप्रचार के लिये संस्थापन करें, जिससे सुख बढ़ें।[३]

४. हे मनुष्यो! जो वेद, उपवेद अङ्ग और उपाङ्गों के पार जाने वाले और शिल्पविद्या के जानने वाले विद्वान् लोग कृपा से सबको उत्तम प्रकार शिक्षा का उपदेश करके विद्यायुक्त करें, वे सब लोगों से सत्कार करने योग्य होवें।[४]

---

१. ऋ०भा०१.१०१.८.

२. ऋ०भा०१.१७९.२.

३. ऋ०भा०१.१८६.१०.

४. ऋ०भा०४.१.१४.

५. वही अध्यापक कृतक्रिय होते हैं, जो क्रोधलोभादि दोषों से रहित हों।[१]

इस प्रकार शिक्षक के विषय में अनेकश: स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने वेदभाष्य में परिभाषाएँ अथवा व्याख्यान भावार्थ के रूप में प्रकट किये हैं।

शिष्य की परिभाषा

शिष्य किसे कहते हैं? ऐसे स्थलों पर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जिज्ञासा वाले पुरुष, विद्यार्थी, श्रोताजन, पढ़ने वाला, ब्रह्मचारी विद्यार्थी इत्यादि शब्दों का प्रयोग स्वग्रन्थों में किया है, जिनसे वे शिष्य के लक्षणों को प्रकट करते हुए दिखायी देते हैं। यथा-

१. विद्वान् लोग जिज्ञासा वाले पुरुषों से मिलके उनमें विद्या के निधि को स्थापित करें।[२]

२. जो प्रीति से धार्मिक उत्तम सेवक विद्यार्थी वा श्रोताजन समीप आवें, उनको उत्तम विज्ञान आदि देवें।[३]

३. पढ़ने वाला पवित्र, कपटरहित और पुरुषार्थी होवे।[४]

४. हे अध्यापक विद्वानो! तुम लोग जो जितेन्द्रिय, उत्तम स्वभावयुक्त, शीत-उष्ण, सुख-दु:ख, आनन्द-शोक, निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्व को सहने वाले, अभिमान और मोह से रहित, सत्य आचरणकर्त्ता और परोपकारप्रिय ब्रह्मचारी होवें, उनको पुरुषार्थ से विद्वान् करिये।[५]

---

१. ऋ०भा०५.७०.३.

२. यजु०२०.८८.

३. ऋ०भा०३.५८.४.

४. ऋ०भा०५.३०.३.

५. ऋ०भा०५.४३.७.

५. हे पढ़ाने और उपदेश करनेवालो! जो आप लोगों के सुख के लिये प्रयत्न करने वाले पुरुषार्थी, प्रीतिमान्, शीघ्रकारी हैं, उन पवित्र, जितेन्द्रिय, धार्मिक विद्यार्थियों को निरन्तर सत्य का उपदेश करो।[१]

इस प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शिक्षा, शिक्षक एवं शिक्षार्थी के विषय में स्वग्रन्थों में अपने हृदय के भावों को सङ्कलित किया है। विशेषरूप से वेदभाष्य करते हुए भावार्थ के अन्तर्गत तथा सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ समुल्लास एवं व्यवहारभानु नामक ग्रन्थ में इन विषयों को प्रतिपादित ही नहीं किया, अपितु राष्ट्र तथा समाज पर पड़ने वाले इनके प्रभावों को भी दिखाया गया है। इस विषय को विस्तृत रूप से सङ्कलित एवं व्याख्यात करने का श्रेय डॉ. रामनाथ वेदालङ्कार को जाता है।[२]

डॉ० श्रीमती उमा शर्मा

---

१. ऋ०भा०६.६८.१.

२. स्वामी दयानन्द के शिक्षा विषयक ज्ञान के लिये डॉ. रामनाथ वेदालङ्कार 'दयानन्द विचारकोश' नामक ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है, जो प्रकाशन, ब्यूरो, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ से १९८२ में प्रकाशित हुआ है।

The Vedas : A Source of Knowledge of Modern World

Dr. Shrawan Kumar Sharma

India the country of the Vedas has been pre - eminently the land of 'Dharma' and 'Sastra'. Her first period was luminous with the discovery of the spirit; her second completed the discovery of the 'Dharma'; her third elaborated into detail the first simpler formulation of the 'Sastra'. Thus an ingrained and dominant spirituality, an inexhaustible vital creativeness and gust of life, a penetrating and scrupulous intelligence combined with the rational, ethical and aesthetic mind created the harmony of the ancient Indian culture.

Right from the beginning, India recognized the value of externalities of life and essence of spirit in proper perspective - that the universe is complex and inexplicable; there are other powers behind; man is normally unaware of the infinite potentialities with himself; man has the power of exceeding himself. India saw the myriad gods beyond man, God beyond the gods and beyond God His own ineffable eternity. When we think of the literature, which makes us able to penetrate the realities of life, the name of the Vedas occupies first place.

The Vedas offer to the world a panorama of life, a variegated patterns of customs, manner and traditions and a rich wealth of philosophy, literature and culture. In a word, the Vedas are the source of all knowledge. The Vedas, being the knowledge imparted by God for the benefit and guidance of mankind, contain knowledge of all kinds useful to man in his life, knowledge of various sciences and arts which we see in the modern world. Sri Aurobindo says :

If the Vedic godheads express the powers of a supreme Deity who is reator, Ruler and Father of the Universe, then there must inevitably be in the Veda a large part of cosmology, the law of creation and of cosmos. In his book **Bankim, Tilak and Dayanand** Sri Aurobindo says :

Dayanand affirms that the truths of modern physical sciences are discoverable in the hymns. Here we have the sole point of fundamental principles about which there can be any justifiable misgivings. I confess my incompetence to advance any settled opinion in the matter. But this much need to be said that his idea is increasingly supported by the recent trend of our knowledge about the ancient world. The ancient civilization did possess secrets of science some of which modern knowledge has recovered, extended and made more rich and precise, but others are even now not recovered. Swami Dayanand asserts that the Vedas contain the secrets of the creation and law of Nature by which the Omniscient governs the world. In his commentary on the Vedas and in his **Rigvedic Bhasya Bhumika**, he has explicity demonstrated this fact. Let us now have few mantras which witness the modern science in the Vedas:

या गौर्वर्तनिं पर्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः।
सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते॥

ऋ० १०.६५.६.

All bodies, Sun, Moon and Earth etc. revolve in their orbits. The earth in its orbits, revolve round the Sun. She suplies the living beings with abundant juices and fruits of various kinds and fulfils the fixed laws of her motion. All bodies Earth, Sun, Moon etc. are the canse of speech in all beings.

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः॥

यजु० ३.६.

All bodies Sun, Moon, Earth etc. revolved in their or bit in the cosmos.The waters or Oceans are like the mother of earth, the Sun is like arth's father. She revolves round the Sun. Air is father of Sun and Space and Ether its mother. The Sun revolves in them. All bodies are supported by air and one made to revolve by air and its power of attraction.

आ कृष्णेन रजसो वर्त्तमानो निवेयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥

यजु० ३३.४३.

The Sun produces juices etc. in the earth and keeps all heavenly bodies in their respective places by its power of attraction.

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ।
तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥

ऋ० ८.४८.१३.

The Moon, whose nourishing properties are well known revolved round the Earth, and sometimes in the course of her journey comes between the Earth and the Sun.

दिवि सोमो अधिश्रितः॥ अथर्व० १४.१.१.

The Moon is dependent on the Sun for its light.

भूमेर्बहिर्द्वादशयोजनानि भूवायुरसाम्बुदविद्युदाद्यम्॥ अथर्व० १४.१.१.

The atmosphere surrounds the Earth. Its height is 12 yojanas (about 60 miles) and the clouds, lightning are phenomena connected with it."

The above mantras from the Vedas explicity show that the Vedas posses ecrets of science. It is remarkable to note that the modern knowledge has recovered and extended some of them. Today, there is a great need to extricate the Vedas from a confused mass of the modern world and study and interpret each phone me in the right perspective. The Vedas, being Divine revelation to mankind, undoubtedly possess knowledge of cosmology, the law of creation and the governance of the cosmos by God, a knowledge of the nature of the eternal varieties, their relation to each other and the laws which govern such relation." In a word, the Vedas has knowledge about man's relation to this world in every repects - social, political, religious, spiritual, scientific, philsopic etc.

Dr. Shrawan Kumar Sharma

Head, Dept. of English

Gurukul Kangri University

Hardwar-249404

ऋग्वेदीय शिक्षार्थ-चिन्तन

डॉ. सत्यदेव निगमालङ्कार

आचार्य पाणिनि ने धातुपाठ में 'शिक्ष' धातु 'विद्याप्राप्ति' के अर्थ में पढ़ी है, जो आत्मनेपदी है।[१] 'संस्कृत-धातुकोष' में इसके अभ्यास करना, अध्ययन करना, सीखना-ये अर्थ व्याख्यात हैं।[२] 'शिक्ष' धातु से 'शिक्षा' (स्वरवर्णाद्युपदेशकग्रन्थ) और 'शैक्षा' पद निष्पन्न होते हैं।[३] यह धातु विद्याप्राप्ति के अतिरिक्त 'जिज्ञासा' अर्थ में गृहीत की गयी है, तब भी यह आत्मनेपदी है, किन्तु इन अर्थों से अतिरिक्त अन्यार्थ में 'शिक्षति' यह परस्मैपदी रूप भी प्राप्त होता है।[४] माधवीया धातुवृत्ति में इसे उपयुक्त नहीं माना गया है।[५] यद्यपि 'वैदिककोष-निघण्टु' में 'शिक्षति' रूप प्राप्त होता है, किन्तु वहाँ वह दानार्थक मानी गयी है।[६] निरुक्तकार ने भी 'शिक्ष' इस लोट् लकार मध्यमपुरुष के रूप का अर्थ 'देहि' कहकर इसे दान अर्थ में स्वीकार किया है।[७] श्रीचित्रवीर कवि ने 'शिक्ष' धातु को विद्याग्रहणार्थ में दिखाते हुए 'शिक्षते' का अर्थ 'पाठयति' (पढ़ाता है) माना है एवं शिक्षकः, शिक्षमाणः (अध्यापक अर्थ में), शिक्षिः, शिक्षुः, शिक्षा, शिक्षणम्, शिक्षणीयम् (ये पाँच अध्यापनार्थ में)-इन शब्दों की उत्पत्ति इसी धातु से दर्शायी है।[८]

---

१. धातु०१.४००.

२. संस्कृत-धातुकोष, सं०युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत.

३. धातुप्रदीप१.३८४.

४. काशकृत्स्न धातुपाठ१.३९८.

५. धातु०१.३८९.

६. निघ०३.२०.८.

७. निरु०१.७.

८. का०कृ०धा०व्या०१.५१०.

ऋग्वेद में 'शिक्ष' धातु के शिक्षते, शिक्षति, शिक्षति, शिक्षसि, शिक्षसि, शिक्षथ:, शिक्षात्, शिक्षा:, शिक्षम्, शिक्षतु, शिक्ष>क्षा, शिक्ष>क्षा, शिक्षतम्, शिक्षतम्, अशिक्ष:, अशिक्षतम्, शिक्षेयम्-ये रूप प्राप्त होते हैं। यद्यपि ये तेरह रूप हैं, किन्तु स्वरभेद से सत्रह रूप बन गये हैं।

ऋग्वेद के भाष्यकारों ने 'शिक्ष' धातु को यद्यपि विभिन्नार्थों में व्याख्यात किया है, किन्तु अत्यधिक स्थलों पर उन्होंने इसे दान अर्थ में ही दर्शाया है। जिन मन्त्रों में उन्होंने इस धातु का केवल 'दान' अर्थ लिया है, हम उन मन्त्रों को नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं। मन्त्रों का अर्थ हम प्रस्तुत कर रहे हैं, जो उन सभी भाष्यकारों को स्वीकार है, जिन्होंने 'शिक्ष' धातु का 'दान' अर्थ किया है, धातु का अर्थ उनका अपना है।

यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसुः सहस्रेणेव शिक्षति॥ ऋ०८.४९.१.

देवता-इन्द्र:। 'जो इन्द्र पुरुवसु है, स्तोताओं को सहस्रों धन देता है।[१]'

यस्मै त्वं मघवन्निन्द्र गिर्वणः शिक्षो शिक्षसि दाशुषे॥ ऋ०८.५२.८.

देवता-इन्द्र:। 'हे धनवान्! स्तुतियों से अर्चनीय, शिक्षकेन्द्र! हवि देने वाले यजमान के लिये तुम अपेक्षित धन देते हो।[२]'

यत्सुन्वते यजमानाय शिक्षथः॥ ऋ०८.५९.१.

देवता-इन्द्रावरुणौ। 'हे इन्द्र और वरुण! सोमाभिषव करने वाले यजमान के लिये तुम इच्छित धन देते हो।[३]'

असत्सु मे जरितः साभिवेगो यत्सुन्वते यजमानाय शिक्षम्॥ ऋ०१०.२७.१.

---

१. शिक्षति ददाति-अज्ञातपण्डित:।

२. यजमानाय शिक्षसि अपेक्षितं धनादि ददासि-अज्ञातपण्डित:।

३. शिक्षथ: अभिमतं प्रयच्छथ:। शिक्षति दानकर्मा-अज्ञातपण्डित:।

देवता-इन्द्रः। इन्द्र की उक्ति है-'भक्त स्तोता! मेरा यह स्वभाव है कि सोमयज्ञ के अनुष्ठाता यजमान को मैं अभिलषित फल देता हूँ।[१]

शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नः॥ ऋ०२.१५.१०.

देवता-इन्द्रः। 'हे इन्द्र! स्तोताओं को धन दो,[२] वञ्चित मत करो, हमें ऐश्वर्य प्राप्त हो।'

शिक्षा विभिन्दो अस्मै चत्वार्ययुता ददत्॥ ऋ०८.२.४१.

देवता-विभिन्दोर्दानस्तुतिः। 'हे विभिन्दु! तुम दाता हो, तुमने मुझे चालीस हजार धन दिया।'[३]

त्वं न ऊती तव चित्रया धिया शिक्षा शचिष्ठ गातुवित्॥ ऋ०८.६६.१४.

देवता-इन्द्रः। 'हे इन्द्र! हमारे लिये तुम रक्षण और विचित्र कर्म के द्वारा अभिलषित पदार्थ प्रदान करो।'[४]

शिक्षा वयोधो वसवे सु चेतुना॥ ऋ०९.८१.३.

देवता-पवमानः सोमः। 'हे अन्नधारक सोम! बसाने वाले परिचरण करने वाले मुझे प्रकृष्ट प्रज्ञान के द्वारा सुख प्रदान करो।'[५]

पूर्वीरिषो बृहतीर्जीरदानो शिक्षा शचीवस्तव ता उपष्टुत्॥ ऋ०

देवता-पवमानः सोमः। 'हे क्षिप्रदान अन्नवान् सोम! जिसकी स्तुति की गयी है, ऐसे आप महान् अन्नों को दो।'[६]

---

१. क-मदर्थं सोमाभिषवं कुर्वते यजमानाय यज्वने शिक्षम् ददामि प्रार्थितमर्थम्-उद्०। ख-यजमानाय धनं प्रयच्छामि-वें०। ग-शिक्षम् अभिलषितमर्थं ददामि-सा०

२. क-देहि स्तोतृभ्य कामान्-वें०। ख-यजमानाय धनं प्रयच्छामि-वें०।

३. क-देहि विभिन्दो! अस्मै गवां चत्वारि अयुतानि प्रयच्छन्-वें०। ख-शिक्ष अशिक्षः दत्तवानसि-सा०।

४. क-अस्मभ्यं देहि-वे०। ख-शिक्ष देह्यभिमतम्-सा०।

५. क-प्रयच्छ अन्नस्य धातः! वें०। ख-शिक्ष देहि-सा०।

६. क-प्रयच्छ प्रज्ञावान्-वें०। ख-शिक्ष देहि-सा०।

शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधाव:॥ ऋ०१०.८१.५.

देवता-विश्वकर्मा। 'विश्वकर्मन्! ज्ञानवालों के लिये स्वधायुक्त हवियों को दो।'[१]

मित्राय शिक्ष वरुणाय दाशुषे॥ ऋ०१०.६५.५.

देवता-विश्वेदेवा:। 'धनों को स्तोताओं के लिये देने वाले मित्र और वरुण के लिये हवियाँ प्रदान करो।'[२]

अस्मभ्यं सु त्वमिन्द्र तां शिक्ष॥ ऋ०१०.१३३.७.

देवता-इन्द्र:। 'हे इन्द्र! उस गाय को तुम हमें प्रदान करो।'[३]

अहरहर्वृषणा मह्यं शिक्षतम्॥ ऋ०८.२६.७.

देवता-अश्विनौ। 'हे स्तवनीय अश्विनौ! प्रतिदिन स्तोत्र करने वाले मुझको धन दो।'[४]

या ह वामिन्द्रावरुणा घृतश्चुतस्ताभिर्धत्तं यजमानाय शिक्षतम्॥ ऋ०८.५९.४.

देवता-इन्द्रावरुणौ। 'हे इन्द्र और वरुण! जो वाणियाँ आपको लक्ष्य करके सोमरस को चुआने वाली होती हैं, उनके द्वारा यजमान को पुष्ट करो और इस कारण यजमान को इच्छित फल दो।'[५]

पुत्रायेव पितरा मह्यं शिक्षतम्॥ ऋ०१०.३९.६.

देवता-अश्विनौ। 'हे अश्विनौ! जैसे पिता पुत्र को, वैसे आप मुझे धन दो।'[६]

प्रजायै त्वस्यै यदशिक्ष इन्द्र॥ ऋ०१०.५४.१.

---

१. क-प्रयच्छ-वें०। ख-शिक्ष देहि-सा०।

२. क-मित्रावरुणाभ्यां प्रयच्छ-वें०। ख-शिक्ष हवींषि देहि-उद्०। ग-शिक्ष हवींषि प्रयच्छ-सा०

३. क-गां प्रयच्छ-वें०। ख-सु शिक्ष प्रदेहि-सा०।

४. क-तादृशम् शिक्षतम्-वें०। ख-शिक्षतम् प्रयच्छतम्-सा०।

५. यजमानाय शिक्षतमभिमतं दत्तम्-अज्ञातपण्डित:।

६. क-मह्यम् दत्तम्-वें०। ख-शिक्षतम् दत्तम्-उद्०। ग-शिक्षतं धनं दत्तम्-सा०।

देवता-इन्द्रः। 'हे इन्द्र! तुमने जो इस यजमानरूपी प्रजा के लिये दान दिया।'[१]

सुदास इन्द्रावरुणावशिक्षतम्॥ ऋ०७.८३.८.

देवता-इन्द्रावरुणौ। 'हे इन्द्र और वरुण! सुदास को तुमने बल प्रदान किया।'[२]

शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे। यदहं गोपतिः स्याम्॥ ऋ०८.१४.२.

देवता-इन्द्रः। 'हे शचीपते इन्द्र! यदि मैं गोपति हो जाऊँ, तो इस स्तोता को दान देने की इच्छा करूँ और प्रार्थित धन दूँ।'[३]

य इन्द्र शुष्मो मघवन्ते अस्ति शिक्षा सखिभ्य पुरुहूत नृभ्यः॥ ऋ०७.२७.२.

देवता-इन्द्रः। 'हे पुरुहूत इन्द्र! तुम्हारे पास जो बल है, उसे स्तोताओं को दो।'[४]

उपर्युक्त मन्त्रों के भाष्य में स्कन्दस्वामी, उद्गीथ, वेङ्कटमाधव तथा सायण ने 'शिक्ष' धातु दानार्थ में व्याख्यात की है। सम्प्रति जिन मन्त्रों को हम उद्धृत कर रहे हैं, उनके भाष्य में भी इन भाष्यकारों ने दान अर्थ ही शिक्ष धातु का माना है, किन्तु स्वामी दयानन्द ने इन प्रत्येक स्थलों पर धात्वर्थ विद्या-प्राप्ति लिया है। अतः हम मन्त्र लिखकर प्रथम अर्थ सम्मिलित रूप से उपर्युक्त स्कन्दस्वामी, उद्गीथ आदि चारों भाष्यकारों का दर्शायेंगे, तदुपरान्त द्वितीय अर्थ स्वामी दयानन्दकृत लिखेंगे, जिसमें उन्होंने धातु का 'विद्याप्राप्ति' अर्थ व्याख्यात किया है।

यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन॥ ऋ०३.५९.२.

देवता-मित्रः। 'हे आदित्य! यज्ञयुक्त होकर जो मनुष्य तुम्हारे लिये हवि के लक्षण वाला अन्न देता है।'[५]

---

१. क-यदा प्रयच्छसि धनम्-वें०। ख-अशिक्षः प्रायच्छः-सा०।

२. बलं प्रयच्छतम्-वें०, सा०।

३. क-दद्याम् अस्मै-वें०। ख-शिक्षेयं प्रार्थितं धनं दद्यां च-सा०।

४. क-तत् प्रयच्छ-वें०। ख-शिक्ष देहि-सा०।

५. क-हविः प्रयच्छति यज्ञे-वें०। ख-शिक्षतिर्दानकर्मा-सा०।

'हे अविनाशिस्वरूप! जो मनुष्य आपके कर्म से जैसे वैसे अन्यजनों को विद्या ग्रहण कराता वा आप ग्रहण करता है।'[१]

मन्त्र में व्यत्यय से 'शिक्ष' धातु को परस्मैपद हुआ है।

इन्द्रो यज्वने पृणते च शिक्षति॥ ऋ०६.२८.२.

देवता-गाव इन्द्रो वा। 'इन्द्र यजनशील और स्तुति करने वाले के लिये अपेक्षित धन देते हैं।'[२]

'हे मनुष्यो! जो राजा यज्ञ करने वाले के लिये विद्या देता है और सुखयुक्त करता है।'[३]

'शिक्ष' धातु का परस्मैपद रूप व्यत्यय से हुआ है।

यजमानाय शिक्षसि सुन्वते भूरि ते वसु॥ ऋ०१.८१.२.

देवता-इन्द्रः। 'हे इन्द्र! आप सोमरसदाता यजमान को धन प्रदान करते हो,[४] आपके पास अक्षय धन है।'

'हे वीरसेनापते! सुख देनेवाला तू युद्धविद्या की शिक्षा देता है।'[५]

कुविन्मे वस्वो अमृतस्य शिक्षाः॥ ऋ०३.४३.५.

देवता-इन्द्रः। 'हे इन्द्र! मेरे लिये क्षयरहित धन को प्रदान करो।'[६]

---

१. शिक्षति विद्यां गृह्णाति ग्राहयति वा-दया०।

२. शिक्षति अपेक्षितं धनं ददाति-सा०।

३. शिक्षति विद्यां ददाति-दया०।

४. क-शिक्षसि ददासि धनानि-स्क०। ख-वसु प्रयच्छसि-वें०। ग-शिक्षसि अपेक्षितं धनं ददासि। शिक्षतिर्दानकर्मा-सा०।

५. शिक्षसि युद्धविद्यां ददासि-दया०।

६. क-गवादिकं बहु प्रयच्छ, शिक्षतिर्दानकर्मेति-वें०। ख-शिक्षाः। शिक्षतिर्दानकर्मा-सा०।

'हे विद्वज्जन! आप मुझे श्रेष्ठ नाशरहित धन की शिक्षा दीजिये।'[१]

मन्त्र में 'शिक्षाः' रूप व्यत्यय से परस्मैपदी में बना है।

इन्द्रो॑ अ॒स्मभ्यं॑ शिक्षतु॥ ऋ०१.८१.६.

देवता-इन्द्रः। 'इन्द्र हमारे लिये धन प्रदान करें।'[२]

'हे विद्वन्! परमैश्वर्ययुक्त! हमें शिक्षा दो।'[३]

शिक्षा॒ वस्वो॒ अन्त॑मस्य॥ ऋ०१.२७.५.

देवता-अग्निः। 'हे अग्निदेव! अत्यन्त उत्कृष्टतम धन हमें दो।'[४]

'हे विद्वान् मनुष्य! (जिस प्रत्यक्षसुख मिलने वाले संग्राम के बीच में धन आदि उत्तम पदार्थों की) हम लोगों को सब विद्याओं की शिक्षा दीजिए।'[५]

'शिक्ष' रूप को 'शिक्षा' दीर्घ '**द्व्यचोऽतस्तिङः**'[६] सूत्र से हो गया है। स्कन्दस्वामी ने 'शिक्षा' का अर्थ करते हुए लिखा है-(शिक्ष) 'शिक्ष दाने।' इससे ज्ञात होता है कि स्कन्दस्वामी के काल में कोई धातुपाठ अवश्य रहा होगा, जैसे पाणिनि, काशकृत्स्न आदि के धातुपाठों में 'शिक्ष' धातु विद्याप्राप्ति के अर्थ में पठित है, उस समय यह धातु 'दान' अर्थ में भी रही होगी।

शिक्षा॑ स्तो॒तृभ्यो॒ माति॑ धग्भगो॑ नः॥ ऋ०२.११.२१.

देवता-इन्द्रः। 'हे इन्द्र! स्तोताओं को धन दो,[७]' वञ्चित मत करो, हमें ऐश्वर्य प्राप्त हो।

---

१. शिक्षाः शिक्षस्व-दया०।

२. शिक्षतु ददातु-स्क०, वें०, सा०।

३. शिक्षतु विद्यामुपाददातु-दया०।

४. क-शिक्ष शिक्ष दाने-स्क०। ख-प्रयच्छ-वें०। ग-शिक्ष देहि। शिक्ष विद्योपादाने-सा०, मुद्र०।

५. शिक्ष सर्वविद्या उपदिशेः-दया०।

६. अष्टा०६.३.१३५.

७. क-देहि-वें०। ख-शिक्ष प्रयच्छ-सा०।

'हे विद्या देनेवाले! (आपकी नीति) स्तुति करने वालों के लिये शिक्षा देती है,[१] नहीं अतीव किसी को दहती, नहीं कष्ट देती है।'

शिक्षा॑ स्तो॒तृभ्यो॒ माति॑ धग्भगो॑ नः॥ ऋ०२.१६.९.

देवता-इन्द्रः। वेङ्कटमाधव तथा सायण ने उपर्युक्त अर्थ ही मानकर पूर्ववत् कर दिया है।

'हे विद्वान्! स्तुति करने वाले विद्वानों के लिये जो पदार्थ (हैं) उनको मत भस्म कर, जो ऐश्वर्य है उसको हमारे लिये शिक्षा देओ।'[२]

यहाँ पर भी 'शिक्ष' रूप को 'शिक्षा' पूर्ववत् दीर्घ होकर बना।

शिक्षा॑ स्तो॒तृभ्यो॒ माति॑ धग्भगो॑ नः॥ ऋ०२.१७.९.

देवता-इन्द्रः। वेङ्कटमाधव एवं सायणकृत अर्थ उपर्युक्त ही है।

'हे विदुषि! तू कन्याओं को शिक्षा दे,[३] स्तुति करने वाले विद्वानों से मत किसी काम का विनाश कर।'

शिक्षा॑ स्तो॒तृभ्यो॒ माति॑ धग्भगो॑ नः॥ ऋ०२.१८.९.

देवता-इन्द्रः। उपर्युक्त दोनों भाष्यकारों द्वारा किया हुआ अर्थ पूर्ववत् है।

'हे जगदीश्वर वा सत्योपदेशक! अध्यापकों के लिये शिक्षा देओ,[४] हम लोगों के लिये ऐश्वर्य को मत नष्ट करो।'

शिक्षा॑ स्तो॒तृभ्यो॒ माति॑ धग्भगो॑ नः॥ ऋ०२.१९.९.

देवता-इन्द्रः। वेङ्कटमाधव तथा सायण द्वारा किया गया अर्थ पूर्वोक्त ही है।

---

१. शिक्ष अनुशास्ति-दया०।

२. शिक्ष-दया०।

३. शिक्ष उपदिश -दया०।

४. शिक्षा स्तोतृभ्यः अध्यापकेभ्यः-दया०।

'हे विद्वान्! आप हमारे लिये प्रभाव को मत नष्ट करो, विद्या की कामना करने वालों के लिये सिखाइये।'[१]

शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नः॥ ऋ०२.२०.९.

देवता-इन्द्रः। वेङ्कटमाधव एवं सायण इन दोनों ने पूर्ववत् ही अर्थ किया है।

'हे देने वाले! आप हम लोगों को विद्या ग्रहण कराइये।'[२]

शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि॥ ऋ०७.३२.२६.

देवता-इन्द्रः। 'हे पुरुहूत इन्द्र! इस समय यज्ञ में तुम हमें धन दो।'[३]

'हे बहुतों से प्रशंसा को प्राप्त परमैश्वर्य देने वाले जगदीश्वर भगवन्! इस वर्त्तमान समय में आप हम लोगों को सिखलाओ।'[४]

यहाँ 'शिक्ष' को 'शिक्षा' रूप '**द्व्यचोऽतस्तिङः**'[५] से दीर्घ होकर बना है।

उत शिक्ष स्वपत्यस्य शिक्षोः॥ ऋ०३.१९.३.

देवता-अग्निः। 'हे अग्निदेव! उस सुन्दर धन को हमें प्रदान करो।'[६]

'हे पूर्णविद्या के प्रकाश से युक्त! हम लोगों को जिस उत्तम सन्तान वा विद्यार्थियों के सहित शिक्षक पुरुष की तरह आप विद्योपदेश दीजिए।'[७]

यज्ञाय शिक्ष गृणते सखिभ्यः॥ ऋ०३.३०.१५.

---

१. शिक्ष विद्याग्राहय स्तोतृभ्यः विद्यामिच्छुभ्यः-दया०।

२. शिक्ष विद्यां ग्राहय-दया०।

३. क-प्रयच्छ अस्मभ्यम्-वें०। ख-शिक्ष धनं देहि-सा०।

४. शिक्ष-दया०।

५. अष्टा०६.३.१३५.

६. क-अपि च देहि-वें०। ख-शिक्ष धनं देहि-सा०।

७. शिक्ष विद्यां ग्राहय-दया०।

देवता-इन्द्रः। 'हे इन्द्र! तुम यज्ञ करने वाले, स्तोत्र करने वाले तथा सखाओं के लिये अभीष्ट फल प्रदान करो।'[१]

'हे विद्या और ऐश्वर्य के दाता! मित्रों तथा सङ्गतिजन्य विशेष ज्ञान और स्तुति करने वाले के अर्थ आप विद्यादान कीजिए।'[२]

यहाँ 'शिक्ष' रूप व्यत्यय से परस्मैपद है।

आ भरतं शिक्षतं वज्रबाहू अस्मान्॥ ऋ०१.१०९.७.

देवता-इन्द्राग्नी। 'हे वज्रबाहू इन्द्राग्नी! हमारे लिये धन लाओ और हमारे लिये दो।'[३]

'जिनके वज्र के तुल्य बल और वीर्य हैं, वे पढ़ने और पढ़ाने वालो! तुम दोनों हम लोगों को स्वीकार करो, शिक्षा देओ।'[४]

पुरंदरा शिक्षतं वज्रहस्तास्मान्॥ ऋ०१.१०९.८.

देवता-इन्द्राग्नी। 'हे वज्रहस्त पुरन्दर इन्द्र और अग्नि! हमारे योग्य धन दो।'[५]

'जो शत्रुओं के पुरों को विध्वंस करने वाले वा जिनका विद्यारूपी वज्र हाथ के समान है, वे हम लोगों को शिक्षा देओ।'[६]

अशिक्षो यत्र शच्या शचीवो दिवोदासाय॥ ऋ०६.३१.४.

---

१. क-देहि-वें०। ख-शिक्ष। शिक्ष विद्योपादाने। अयं धातुरत्र दाने वर्तते-सा०।

२. शिक्ष विद्यां धेहि-दया०।

३. क-शिक्षतम् दत्तमस्मभ्यम्-स्क०। ख-प्रयच्छतम्-वें०। ग-शिक्षतम् अस्मभ्यं दत्तम्। शिक्षतिर्दानकर्मा। . . . . शिक्षतम्। शिक्ष त्रिद्योपादाने-सा०।

४. शिक्षतम् विद्योपादानं कारयतम्-दया०।

५. क-शिक्षतं दत्तमस्मभ्यम्-स्क०। ख-धनानि प्रयच्छतम्-वें०। ग-शिक्षतम् अस्मदपेक्षितं धनं प्रयच्छतम्-सा०।

६. शिक्षतम्-दया०।

देवता-इन्द्रः। 'हे प्रजावान्! हे अभिषुत सोम से क्रीतेन्द्र! जिस समय सोमाभिषव करने वाले दिवोदास के लिये प्रज्ञा के द्वारा धन दिये थे।'[१]

'हे उत्तम बुद्धिवाले राजन्! उत्तम शिक्षायुक्त वाणी वा उत्तम कर्म से विज्ञान के देने वाले को शिक्षा दीजिए,[२] विद्या का प्रचार कराइये।'

'शिक्ष' धातु को भाष्यकारों ने विभिन्नार्थों में व्याख्यात किया है। नीचे हम उन मन्त्रों को प्रदान कर रहे हैं-

प्रदान करना, अभ्यास करना, सीखना, ग्रहण करना अर्थ में 'शिक्ष' धातु-

यत्र नार्यपच्यवमुपच्यवं च शिक्षते॥ ऋ०१.२८.३.

देवता-इन्द्रयज्ञसोमाः। 'जिस यज्ञ में यजमान की पत्नी बैठती और वहाँ से बाहर निकलती रहती है।' स्कन्दस्वामी ने मन्त्र में समागत नारीपद में लुप्तोपमा मानते हुए 'शिक्ष' धातु प्रदानार्थक दर्शायी है और मन्त्रार्थ इस प्रकार किया है-'यज्ञ में, मैथुनकाल में स्वजङ्घाओं को जैसे नारी पुरुष के लिये, वैसे एक पत्थर दूसरे पत्थर के लिये नीचे गमन और ऊपर आगमन प्रदान करता है, अर्थात् नीचे आता है और ऊपर जाता है।'[३] सायण एवं मुद्गल ने 'शिक्ष' धातु को 'अभ्यास करना' अर्थ में गृहीत करते हुए मन्त्रार्थ इस प्रकार किया है-'जिस कर्म में पत्नी घर से बाहर जाने और घर के अन्दर आने का अभ्यास करती है।'[४] वेङ्कटमाधव ने धातु का 'सीखना' अर्थ माना है-'जहाँ अभिषवप्रवृत्तपत्थरों को देखकर स्त्री पति में प्रवेश की कुशलता और निर्गमन की कुशलता को सीखती है।'[५] स्वामी दयानन्द ने धातु को शिक्षार्थ

---

१. क-अशिक्षः अदाः-स्क०। ख-प्रायच्छः-वें०। ग-अशिक्षः धनानि प्रादाः-सा०।

२. अशिक्षः शिक्षय-दया०।

३. यत्र यज्ञे मैथुनकाले स्वजघने नारीव पुरुषाय, एकोऽभिषवग्रावा इतरस्मै ग्राव्णे अपच्यवम् उपच्यवम् च च्यवतिर्गत्यर्थः। अपगमनमुपगमनम् च शिक्षते ददाति अपगच्छत्युपगच्छति चेत्यर्थः।

४. क-शिक्षते अभ्यासं करोति। शिक्ष विद्योपादाने।

५. स्त्री भर्तरि प्रवेशकौशलं निर्गमनकौशलं च शिक्षते।

में व्याख्यात किया है-'हे इन्द्रियों के स्वामी जीव तू! जिस कर्म में घर के बीच स्त्रियाँ काम करने वाली अपनी संगनी स्त्रियों के लिये (उक्त उलूखलों से सिद्ध की हुई विद्या को) अर्थात् जैसे डालना, निकालना आदि क्रिया करनी होती है, वैसे उस विद्या को शिक्षा से ग्रहण करती और कराती हैं।'[१]

वेङ्कटमाधव का 'सीखना' सायण और मुद्गल का 'अभ्यास करना' 'शिक्ष' धातु का अर्थ 'विद्याप्राप्ति' को ही सूचित करता है। स्वामी दयानन्दकृत धात्वर्थ 'ग्रहण करना' शिक्षा से ही सम्बन्ध रखता है। स्कन्दस्वामी ने जो 'शिक्ष' धातु का 'प्रदान करना' अर्थ लिया है, वह किस प्रकार हो गया, यह तो चिन्त्य ही है, किन्तु मन्त्र का अर्थ भी अव्यावहारिक तथा अप्रासङ्गिक प्रतीत होता है।

आज्ञा देना अर्थ में 'शिक्ष' धातु-

यस्मै त्वं वसो दानाय शिक्षसि॥ ऋ०८.५१.६.

देवता-इन्द्रः। 'हे बसाने वाले इन्द्र! तुम जिस मनुष्य को दान देने के लिये शिक्षा देते हो।' यह मन्त्र बालखिल्य का है। इस पर जो अज्ञातपण्डित का भाष्य मिलता है, उन्होंने धात्वर्थ आज्ञा देना लिया है-'हे बसाने वाले इन्द्रदेव! तुम यजमान के लिये धन देने हेतु आज्ञा देते हो।'[२]

दान देना, समर्थ होना, शिक्षा देना अर्थ में 'शिक्ष' धातु-

यस्तुभ्यं दाशाद्यो वा ते शिक्षात्॥ ऋ०१.६८.३.

देवता-अग्निः। 'अग्निदेव! जो तुम्हें हव्य देता है, अथवा जो तुम्हारा कर्म करने को सीखता है।' स्कन्दस्वामी और वेङ्कटमाधव ने 'शिक्ष' धातु का 'दान' अर्थ लिया है-'जो

---

१. शिक्षते ग्राहयति।

२. शिक्षसि आज्ञापयसि।

तुम्हारे लिये हवि देता है या जो तुम्हारे लिये दान देता है।'[१] सायण एवं मुद्गल ने 'समर्थ होना' अर्थ धातु का दिखाया है-'हे अग्निदेव! तुम्हारे लिये जो चरु, पुरोडाशादि हवियों को देता या अन्य कोई भी जो यजमान तुम्हारे कर्म को करने में समर्थ हो जाऊँ-ऐसा चाहता है।[२] स्वामी दयानन्द ने 'शिक्षा देना' अर्थ मानते हुए अर्थ इस प्रकार किया है-'जो ईश्वरोपासक धर्म पुरुषार्थयुक्त तुम्हारे लिये पूर्ण विद्या देवे या जो तुम्हारे लिये अच्छी शिक्षा करे।'[३]

शासन करना, दान देना, सशक्त होना अर्थ में 'शिक्ष' धातु-

शिक्षा शचीवः शचीभिः॥ ऋ०८.२.१५.

देवता-इन्द्रः। 'शक्तिमान् इन्द्र! तुम अपने कर्म बल से हमें दान देना।' सायण ने धातु को तीन अर्थों में व्याख्यात किया है-'हे शक्तिमान् इन्द्र! स्वकर्मों के द्वारा तुम हम पर शासन करो अथवा अभीष्ट धन हमें दो अथवा शत्रु को जीतने के लिये हमें सशक्त करो।'[४] वेङ्कटमाधव ने यहाँ धातु के दान अर्थ को ही स्वीकार किया है-'हे प्रजावान्! प्रज्ञाओं से हमें धन दो।'[५]

दान देना, उपदेश देना, विद्या ग्रहण करना अर्थ में 'शिक्ष' धातु-

त्रिः सुप्राव्ये त्रेधेव शिक्षतम्॥ ऋ०१.३४.४.

देवता-अश्विनौ। 'हे अश्विनौ! रक्षा करने योग्य के पास तीन बार आओ, तीन प्रकार से शिक्षा दो।' स्कन्दस्वामी एवं वेङ्कटमाधव ने यहाँ 'शिक्ष' धातु का अर्थ दान माना है-'हे

---

१. क-ते शिक्षात् दानकर्माऽयं सन्नन्तस्य चार्थे द्रष्टव्यः। ख-नियच्छसि।

२. ते शिक्षात् त्वदीयं कर्म कर्तुं शक्तो भूयासम् इति इच्छति। शिक्षात् शक्लृ गतौ। इच्छार्थे सन्।

३. शिक्षात् साध्वीं शिक्षां कुर्यात्।

४. शचीभिः आत्मीयैः कर्मभिः शिक्ष अस्माननुशाधि। यद्वा शिक्षतिर्दानकर्मा। अभीष्टं धनमस्मभ्यं देहि। यद्वा। शत्रून् जेतुं शिक्ष शक्तान् कर्तुमिच्छ।

५. प्रयच्छ धनं प्रज्ञावान्! प्रज्ञाभिः।

अश्विनौ! बहुत प्रकार से यज्ञ करने वाले के लिये तुमने बहुत प्रकार से धन दिया है।'[१] सायण तथा मुद्गल ने धात्वर्थ 'उपदेश देना' दर्शाया है-'हे अश्विनौ! तीन बार अच्छी प्रकार से आप दोनों के द्वारा रक्षणीय हम लोगों को तीन प्रकार से ही शिक्षित करो अर्थात् पुनः पुनः अनुष्ठान का उपदेश दो।'[२] स्वामी दयानन्द ने 'विद्याग्रहण करना' अर्थ धातु का दर्शाया है-'तीन बार अच्छे प्रकार प्रवेश करने योग्य तीन प्रकार अर्थात् हस्तक्रिया, रक्षा और यानचालन के ज्ञान को शिक्षा करते हुए अध्यापक के समान सुशिक्षा से विद्या को ग्रहण कराओ।'[३]

सायण तथा मुद्गलकृत 'उपदेश देने' का अर्थ मूल रूप में 'शिक्षा देना' 'विद्याप्राप्ति करना' ही है। किन्तु **'त्रेधेव शिक्षतम्'** इस पद को **'त्रेधेव त्रिभिरेव प्रकारैः शिक्षतम्'** अर्थात् **'त्रेधा इव'** इसको **'त्रिभिः एव प्रकारैः'** इस प्रकार व्याख्यात करना चिन्त्य है, यतोहि यहाँ **'इव'** पद है, न कि **'एव'** पद। 'इव' पद भी पदपूरक के रूप में यहाँ प्रयुक्त है। अतः सायणकृत **'त्रिभिरेव प्रकारैः'** व्याख्यान शोचनीय प्रतीत होता है।

ऋग्वेद के भाष्यकारों ने 'शिक्ष' धातु को 'दान देना, शिक्षा देना, अभ्यास करना, सीखना, ग्रहण करना, आज्ञा देना, समर्थ होना, शासन करना, प्रदान करना, सशक्त होना, उपदेश देना, विद्या ग्रहण करना'-इन अर्थों में व्याख्यात किया है। दान देना, प्रदान करना-दोनों ही अर्थ दानवाची हैं। शिक्षा देना, अभ्यास करना, सीखना, उपदेश देना, विद्या ग्रहण करना- ये सब विद्याप्राप्ति के भाव को दर्शाते हैं, ग्रहण करना, आज्ञा देना, समर्थ होना, शासन करना, सशक्त होना-ये पाँच अर्थ स्व-स्व अर्थों को लिये हुए हैं। लोक में 'शिक्ष' धातु आत्मनेपदी है, जबकि वेद में यह उभयपदी प्राप्त होती है। यह नहीं कहा जा सकता कि 'शिक्ष' धातु आत्मनेपदी होने पर 'विद्याप्राप्ति' के अर्थ में ग्राह्य है और परस्मैपदी होने पर 'दान' अर्थ में। क्योंकि वेद में यह उभयपदी प्राप्त होने पर उपर्युक्त विभिन्नार्थों को प्रदान कर

---

१. शिक्षतिर्दानकर्मा। बहुप्रकारं दत्तम्। ख-त्रेधा च दत्तम्।

२. त्रेधेव त्रिभिरेव प्रकारैः शिक्षतम्। पुनः पुनरनुष्ठानमुपदेष्टव्यमित्यर्थः। शिक्ष विद्योपादाने।

३. शिक्षतम् सुशिक्षया विद्यां ग्राहयतम्।

रही है। स्वामी दयानन्द ने तो यह 'शिक्ष' धातु परस्मैपदी हो अथवा आत्मनेपदी, दोनों ही रूपों में ऋग्वेद के अन्तर्गत इसे 'विद्याप्राप्ति' के अर्थ में ही दर्शाया है, जबकि अन्य भाष्यकारों ने विभिन्नार्थ ग्रहण किये हैं।

ऋग्वेद में 'शिक्ष' धातु से निष्पन्न 'शिक्षमाण: (शिक्ष्यमाण शिष्य), शिक्षमाणस्य (समीप में रहने वाले के) शिक्षानर: (शिक्षादातानेता), शिक्षो (शिक्षकेन्द्र)-इत्यादि पदों के प्रयोग प्राप्त होते हैं।'[१]

डॉ. सत्यदेव निगमालङ्कार
उपाचार्य उपनिदेशक
श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार-२४९४०४

१. क्रमश:ऋ०१.५३. २;७.१०३. ५;८.४२.३;८. ५२.८.

गुरुकुल शिक्षापद्धति की विशेषतायें

डॉ० त्रिलोक चन्द

भारतवर्ष में प्राचीनकाल में स्कूलों, कालेजों के स्थान पर गुरुकुल होते थे, जिनमें विद्यार्थी अपने गुरुजनों की देखरेख में विद्याध्ययन किया करते थे। लड़के और लड़कियों के गुरुकुल अलग-अलग होते थे और उनमें कम से कम एक निश्चित दूरी होती थी। ये गुरुकुल नगरों की भीड़भाड़, कोलाहल आदि से दूर एकान्त, शान्त और पवित्र स्थानों पर होते थे। कहा गया है-

उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत॥ यजु० २६.१५

अर्थात् पर्वतों की गुफाओं में और नदियों के सङ्गम में विद्वान् बनते हैं अर्थात् ऐसे स्थान विद्या प्राप्त करने के लिये श्रेष्ठ हैं।

विद्यार्थियों को गुरुकुल में ही रहना पड़ता था, वहीं पर उनके लिये छात्रावास होता था। वर्त्तमान की भाँति ऐसा नहीं था कि अधिकतर विद्यार्थी प्रतिदिन अपने-अपने घरों से पढ़ने जाते हैं। गुरुकुलों में तो विद्यार्थी हर समय गुरुओं की देखरेख में रहते थे। आदर्शरूप में तो यह नियम विद्या आरम्भ होने से लेकर शिक्षा पूर्ण होने तक था।

गुरुकुल शिक्षापद्धति की अपनी बड़ी विशेषतायें थीं, जिनका वर्तमान स्कूल शिक्षापद्धति में अभाव होने के कारण अनेकों समस्यायें उत्पन्न हो गयी हैं। इस लेख में गुरुकुल शिक्षापद्धति की विशेषताओं पर प्रकाश डालना ही मुख्य लक्ष्य है।

गुरुकुल शिक्षापद्धति की प्रथम विशेषता तो यह है कि इसमें शिक्षा के साथ-साथ विद्यार्थी का सर्वाङ्गीण विकास किया जाता है। विद्यार्थियों के चौबीसों घण्टों के समय का निर्धारण रहता है। विद्यार्थी प्रातः ही जागकर अपनी दिनचर्या में लग जाते हैं। योगाभ्यास,

व्यायाम, यज्ञ, विद्याभ्यास, नियमित समय पर भोजन, खेलना आदि-आदि उसकी दिनचर्या के अङ्ग होते हैं। इस दिनचर्या से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य के सर्वाङ्गीण विकास की यथार्थता गुरुकुल शिक्षापद्धति में निहित है। शारीरिक, बौद्धिक और आत्मिक विकास की साधना गुरुकुल शिक्षापद्धति में करायी जाती है। चरित्र निर्माण पर विशेष ध्यान दिया जाता है, जिसका वर्तमान समय की शिक्षापद्धति में प्राय: अभाव दिखलाई देता है। जिसके परिणामस्वरूप चारों ओर भ्रष्टाचार बढ़ता ही जा रहा है। घूस, चोरी, मिलावट आदि इस स्थिति तक बढ़ गयी हैं कि जनता में त्राहि-त्राहि मची हुई है। भ्रष्टाचार के बल पर ऐसे बड़े-बड़े अनर्थ, अन्याय, अत्याचार आदि हो रहे हैं, जिनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। वर्तमान समय में यदि गुरुकुल शिक्षापद्धति को अपना लिया जाये, जिसमें चरित्र-निर्माण पर विशेष महत्त्व दिया जाता है तो भविष्य में भ्रष्टाचार से छुटकारा पाया जा सकता है। यहाँ एक निम्नलिखित उदाहरण देना उचित होगा-

एक समय की बात है कि महामन्त्री चाणक्य रात्रि के समय अपनी झोंपड़ी में दीपक जलाकर कुछ लिख रहे थे, उसी समय उनके पास एक व्यक्ति आया। चाणक्य ने उससे पूछा कि वह राजकार्य से आया है या व्यक्तिगत कार्य से। उस व्यक्ति ने कहा कि वह व्यक्तिगत कार्य से आया है। यह सुनकर चाणक्य ने उसे सत्कारपूर्वक बैठने के लिये कहा और उसके पश्चात् उन्होंने एक दूसरा दीपक जलाया तथा पहले से जलते हुए दीपक को बुझा दिया और आगन्तुक महोदय से कहा कि बतलाइये कि क्या बात है? आगन्तुक ने आश्चर्यचकित होकर पूछा कि पहले आप कृपा करके यह बताइये कि आपने क्यों एक दीपक बुझाकर दूसरा दीपक जलाया, जबकि दोनों का प्रकाश समान है? चाणक्य ने कहा कि आप व्यक्तिगत कार्य से मेरे पास आये हैं, आपके आने के समय मैं राज्यकार्य कर रहा था, उस समय जो दीपक जल रहा था, वह राज्य का था। उसमें सरकारी तेल जल रहा था। अब जो दीपक जल रहा है, वह मेरा व्यक्तिगत है। व्यक्तिगत कार्य के लिये मैं राज्य का तैल व्यय नहीं कर सकता, इसलिये ऐसा किया है। यह गुरुकुल शिक्षापद्धति का एक आदर्श है, जो वर्तमान समय में भी

हमारा मार्गदर्शन करता है। वर्तमान शिक्षापद्धति में प्रायः विषय का ज्ञान कराया जाता है। शेष से जैसे कि कुछ लेना-देना नहीं है।

गुरुकुल शिक्षापद्धति की दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि उसमें सबके लिये समान भोजन, समान वस्त्र, समान आवास, समान शिक्षा, समान नियम-उपनियम आदि होते हैं। धनी-निर्धन, छोटे-बड़े, ऊँच-नीच आदि का कोई भेद ही नहीं है। राजकुमार और निर्धन का बालक भी एक साथ बैठकर एक-सा भोजन करते, पढ़ते-लिखते, खेलते और रहते हैं। एक समय पर एक ही गुरु दोनों को शिक्षा देता है। वर्तमान शिक्षापद्धति की भाँति ऐसा नहीं कि जहाँ क्रियात्मक रूप से निर्धन छात्र छोटे से, टूटे-फूटे स्कूलों में जहाँ हर प्रकार की सुविधायें हैं, में पढ़ते हैं। इन कारणों से तो विद्यार्थी जीवन से ही छोटे-बड़े का भेद हो जाता है, जिससे आगे चलकर अलग-अलग वर्ग बन जाते हैं, जो आपसी विरोध का कारण हो जाते हैं। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली में श्रीकृष्ण और सुदामा ने गुरुकुल में एक ही जैसा खाया-पीया।

गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की तीसरी विशेषता यह है कि विद्यार्थी को अपने संस्कारों और रुचि के अनुसार ही विषय चुनने का अवसर दिया जाता है। विद्यार्थियों को निश्चित आयु होने पर गुरुकुल भेज दिया जाता है, जहाँ उन्हें सामान्य ज्ञान सिखाते हुए अनुभवी गुरुजन धीरे-धीरे उनका यह अध्ययन करते हैं कि किस विद्यार्थी में किस योग्यता के संस्कार प्रबल हैं, विद्यार्थी में किस योग्यता के बीज विद्यमान हैं, उसमें क्या-क्या दोष हैं, आदि-आदि। इन सब बातों का अध्ययन करके गुरुजन विद्यार्थियों को उन्हीं-उन्हीं शिक्षा की विधाओं में ज्ञान प्रदान करते हैं और उनके दोषों को दूर करने का प्रयास करते हैं। यदि किसी विद्यार्थी में अध्यात्म, विद्या पढ़ने-पढ़ाने, यज्ञ करने-कराने आदि जैसे कार्यों के संस्कार प्रबल होते हैं तो उसे ब्राह्मण वर्ग में सम्मिलित करके ब्राह्मण बनाया जाता है, शिक्षक बनाया जाता है, जिसमें युद्ध करने, शासन-प्रशासन करने आदि के संस्कार प्रबल होते हैं, उसे उन्हीं क्षेत्रों की शिक्षा दी जाती है। इसी प्रकार जिसमें खेती, व्यापार, उद्योग आदि में आगे बढ़ने की योग्यता होती है, उसे उसी क्षेत्र में आगे बढ़ने के अवसर प्रदान किये जाते हैं। जो किसी प्रकार की योग्यता के संस्कार नहीं रखता, उसे दूसरों की सेवा कार्य में लगाया जाने का विधान है।

इस प्रकार गुरुकुल शिक्षापद्धति में प्रत्येक को अपनी रुचि के अनुसार कार्यक्षेत्र में विकास करने का विधान है, जिससे व्यक्ति की मौलिक क्षमताओं को अधिक से अधिक विकसित किया जा सकता है। वह स्वयं, अपने परिवार व राष्ट्र के लिये अधिक से अधिक उपयोगी हो सकता है। इसके अतिरिक्त एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि जब किसी मनुष्य को अपनी उसकी रुचि के अनुसार कार्य मिल जाता है तो उससे उसे आत्मसन्तुष्टि प्राप्त होती है। वर्तमान स्कूली शिक्षाप×ति में क्रियात्मक रूप से प्राय: विद्यार्थी की मूल रुचि की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है। जिसके परिणामस्वरूप बहुत से मनुष्यों की क्षमताओं का भरपूर उपयोग नहीं होता है।

गुरुकुल शिक्षापद्धति की चौथी विशेषता यह है कि गुरुकुल में रहते हुए विद्यार्थी गृहस्थ की चिन्ताओं आदि से मुक्त रहते हैं। वर्तमान शिक्षापद्धति में विद्यार्थी प्राय: घर-परिवार से प्रतिदिन आकर शिक्षा प्राप्त करते हैं। घर-परिवार के झमेलों का बालक के मन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। उसका बहुत-सा समय घरेलू कार्यों में चला जाता है। गुरुकुल शिक्षाप×ति में विद्यार्थी का सारा समय निर्विघ्न रूप से जीवन-निर्माण का साधना में लगता है। उसका कोमल मन उत्साहित और प्रसन्न रहता है। उसके पूरे समय का सदुपयोग होता है, जिससे वह अपने कार्यक्षेत्र में अधिक से अधिक योग्य बनकर तैयार होता है।

इसके अतिरिक्त गुरुकुल शिक्षापद्धति की अन्य बहुत सारी विशेषतायें हैं। मानवजाति को अधिक से अधिक विकसित करने, अधिक से अधिक सुखी सम्पन्न बनाने, भ्रष्टाचार समाप्त करने आदि-आदि के लिये गुरुकुल शिक्षापद्धति से बढ़कर कोई दूसरा विकल्प संसार में नहीं है। इसलिये सारे संसार में गुरुकुल शिक्षापद्धति को अपनाया जाना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

डॉ० त्रिलोक चन्द,

दर्शन-विभाग,

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

प्राचीन भारत में आयुर्वेद शिक्षण प्रणाली

डॉ० एस. के. जोशी

आयुर्वेद भारतवर्ष की प्राचीनतम विद्याओं में से प्रमुख है। वेदों के उपाङ्ग या उपवेद-धनुर्वेद, स्थापत्य वेद, गन्धर्ववेद और आयुर्वेद। इनमें से आयुर्वेद चिकित्साशास्त्र है।

किसी भी काल की शिक्षा-प्रणाली का ज्ञान प्राप्त करने के लिये उस काल के सामाजिक, आर्थिक परिवेश का अध्ययन बहुत आवश्यक है। आयुर्वेद वैदिक परम्परा की एक विशेष शिक्षा विधा है। ऋग्वेद काल (ईसा से लगभग ३-५ हजार वर्ष पूर्व) में तो यायावर और कबीला प्रधान जीवन-शैली प्रचलित थी; और उस समय की प्रचलित शिक्षा-प्रणाली इस लक्ष्य के अनुरूप ही थी। उस काल में विभिन्न ऋषि प्रकृति के मूल तत्त्वों की खोज एवं जीवनोपयोगी पदार्थों के संरक्षण में संलग्न थे। अनेक ऋषियों ने अपने पशुधन की रक्षा के लिये विभिन्न ऋचाओं की रचना की थी। पशुधन की प्राप्ति ही अनेक युद्धों का कारण था। विभिन्न युद्धों में विजय-प्राप्ति और पशुधन-रक्षार्थ यज्ञों द्वारा इन्द्र, सूर्य, वरुण आदि अनेकानेक दैवीय शक्तियों का आह्वान किया जाता था। ऋषियों के यायावर स्वरूप से इतर उनकी गुरुकुल पद्धति में प्रत्येक सुयोग्य व्यक्ति को विद्यादान दिया जाता था। उस समय तक किसी प्रकार की वर्ण-व्यवस्था प्रभावी नहीं थी। ज्ञान के द्वार स्त्री और पुरुषों के लिये समान रूप से खुले हुए थे। प्रत्येक शिष्य की निजी क्षमता और प्रतिभा के आधार पर पृथक्-पृथक् शिक्षण-पद्धति अपनाई जाती थी। वेदों के अध्ययन हेतु विद्यार्थियों को इन ग्रन्थों का मूल पाठ कण्ठस्थ कराया जाता था। मन्त्रों, ऋचाओं का सस्वर उच्चारण सिखाया जाता था। इस तरह एक लम्बे समय तक गुरु-शिष्य परम्परा का निर्वाह होता रहा और वेदोक्त ज्ञान गुरुमुख से शिष्य को प्राप्त होता रहा।

आयुर्वेद अथर्ववेद का उपाङ्ग है। यह समय के साथ सञ्चित हुई ज्ञानराशि है। ब्रह्मा इसके प्रथम उपदेष्टा माने जाते हैं। मनुष्योत्पत्ति से पूर्व ही ब्रह्मा ने एक लाख श्लोक और एक हजार अध्यायों में इसे कहा था। इस तरह सम्पूर्ण चिकित्सा विषयक ज्ञान आयुर्वेद कहलाया। इस समय तक आयुर्वेद का यह विस्तृत एवं अविभाज्य स्वरूप बना हुआ था। परन्तु कालान्तर में इस तरह सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने और याद करने में कठिनाई होने के कारण, मनुष्यों की अल्प आयु एवं अल्प बुद्धि को देखकर और विशेषता प्राप्त करने के उद्देश्य से आयुर्वेद के आठ प्रविभाग कर दिये गये और इस प्रकार आयुर्वेद अष्टाङ्ग स्वरूप को प्राप्त हुआ।

इस आयुर्वेद को ब्रह्मा ने उपदिष्ट किया, ब्रह्मा से दक्ष प्रजापति ने यह ज्ञान प्राप्त किया। दक्ष प्रजापति से अश्विनीकुमारों ने इसको सीखा, अश्विनीकुमारों से इन्द्र ने इसे प्राप्त किया। ब्रह्मा से इन्द्र तक की परम्परा स्वर्गलोक की परम्परा मानी जाती है। इसके बाद अलग-अलग ऋषि परम्परा इस मृत्युलोक में प्रारम्भ होती है। विभिन्न ऋषियों ने पृथक्-पृथक् विषयों (आयुर्वेदाङ्गों) का अध्ययन इन्द्र से किया। ऋषियों ने अपनी-अपनी ऋषि परम्परा प्रारम्भ की और अपने शिष्यों को उसी परम्परा में दीक्षित किया।

आयुर्वेद शास्त्र के अध्ययन के इच्छुक योग्य शिष्य का उपनयन करना आवश्यक था। जैसा कि ज्ञातव्य है कि विद्या अध्ययन का शुभारम्भ उपनयन संस्कार के साथ होता था। पुत्र को विद्या अध्ययन के लिये गुरु को सौंप दिया जाता था। वैदिक काल में कभी-कभी कन्या का भी उपनयन कर दिया जाता था। उपनयन-संस्कारोपरान्त उसे **'द्विज'** कहा जाता था। ब्रह्मचारी शिक्षार्थी के लिये उपनयनोपरान्त अपने गुरु के आश्रम में रहकर भौतिक, शारीरिक और आध्यात्मिक अनुशासन का पालन करना अनिवार्य था। वैदिक काल में शिक्षा मौखिक रूप से ही दी जाती थी। अधिकांशतः श्रुतियों और स्मृतियों के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी और शिष्य जब समस्त आप्त वचनों को कण्ठस्थ कर लेता था, तब गुरु अपने शिष्य को स्नातकोपदेश के रूप में व्यावहारिक ज्ञान देते थे; जैसे-सदा सत्य बोलो, धर्मानुसार आचरण करो, माता-पिता, गुरु और वृद्धजनों को देवतुल्य मानकर उनका आदर-सम्मान करो तथा

अहिंसा का पालन करो इत्यादि। आयुर्वेद शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक कुलीन बालक जो शील, शौर्य, शुचि, आचार, विनय, शक्ति, बल, मेधा, धृति, स्मृति, मति, प्रतिपत्ति, तनु जिह्वा, ओष्ठ, दन्ताग्र वाले, सुदर्शन, प्रसन्नचित्त, मधुरवाणी एवं सुन्दर चेष्टायुक्त, क्लेशसह आदि गुणों से सम्पन्न हो, ऐसे शिष्य का ही उपनयन किया जाता था। उपर्युक्त गुणों का होना किसी भी आयुर्वेद शिक्षार्थी के लिये आवश्यक था। अष्टाङ्गसग्रहकार के अनुसार-जो गुरुभक्त हो, शास्त्र के अध्ययन हेतु तत्पर हो, धी, स्मृति और इन्द्रिय स्वस्थ हो, जिसके नख कटे हुए हों; छः मास तक अपने पास रख कर जिसके सच्चरित्रादि सद्गुणों की पहिचान गुरु ने कर ली हो; ऐसा शिष्य जो प्रिय बोलने वाला और बलवान् हो, लज्जायुक्त और शौचयुक्त हो, जो कुलीन हो, ऐसे शिष्य को जब तक वह तन्त्र के अर्थ और कर्मज्ञान को सम्पूर्ण रूप में न जान ले, तब तक वह पढ़ाने योग्य नहीं है।

इस तरह शिष्य की पात्रता की जाँच कर वैद्य उपनयन के योग्य शिष्य को उपनयन के लिये प्रशस्त तिथि, करण, प्रशस्त मुहुर्त, प्रशस्त नक्षत्र में, प्रशस्त दिशा में, पवित्र समस्थान में, चार हाथ लम्बे-चौड़े चतुष्कोण स्थान को गोबर से लीपकर उस पर कुशा बिछा दे; फिर रत्न, पुष्प, लाजादि अन्न एवं विविध रत्नों से देवताओं, ब्राह्मणों, पूज्य वैद्यों का पूजन करे। फिर इस स्थान पर ऊर्ध्वमुखी रेखा करके जल छिड़क कर ब्रह्मा को दक्षिण दिशा में प्रतिष्ठित कर अग्नि प्रज्वलित करे। खदिर, ढाक, देवदार, बिल्व इनकी अथवा बड़, गूलर, पीपल, महुआ इन चार क्षीरी वृक्षों की समिधा को दही, शहद, घी से लिप्त कर दार्वी होम विधि से ओङ्कारपूर्वक स्रुवे से घृत की आहुति देते हुए प्रत्येक ऋषि के लिये स्वाहा शब्द के साथ आहुति दे और शिष्य भी गुरु का अनुसरण करे। स्वाहाकार के पश्चात् प्रज्वलित अग्नि की तीन बार प्रदक्षिणा कराकर शिष्य को अग्नि की साक्षी देकर आचार्य इस प्रकार उपदेश देते हैं-'**काम, क्रोध, लोभ, मान, अहङ्कार, ईर्ष्या, कठोर वाणी, खलता, मिथ्या, आलस्य एवं सभी निन्दित कार्यों को छोड़कर नख और शिर के बाल कटवाकर पवित्रता के साथ कषाय वस्त्र पहिनकर, सत्य शास्त्रोक्त नियम, ब्रह्मचर्य और नामोच्चारणपूर्वक अभिवादन करने में सदा तत्पर रहना चाहिये। मेरी (गुरु की) आज्ञा से उठना, बैठना, जाना, सोना,**

खाना एवं पढ़ना आदि कार्यों में तत्पर रहते हुए मेरे हित में तुम्हें व्यवहार करना चाहिये। इसके विपरीत आचरण करने पर, अधर्म होगा, विद्या निष्फल हो जायेगी, विद्या कभी प्रकाशित नहीं होगी और यदि तुम्हारे ठीक प्रकार के व्यवहार करने पर भी मैं (गुरु) इसके विपरीत मिथ्याचरण करूँ तो मैं पाप का भागी बनूँ और मेरी विद्या व्यर्थ हो।'

इस प्रकार गुरु और शिष्य दोनों के लिये स्पष्ट आचार-संहिता का पालन अनिवार्य था। आयुर्वेद के साथ-साथ विद्या अध्ययन में वेदों, संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, वेदाङ्गों, धर्मसूत्रों, इतिहास-पुराण, व्याकरण, वार्ता, अन्वेषिकी आदि अन्य आवश्यक विद्याओं का ज्ञान भी दिया जाता था। गुरु को पिता और ईश्वर जैसा स्थान प्राप्त था। शिष्य गुरु का मानसपुत्र माना जाता था। इस विधि से शिष्य गुरु के आश्रम में रहकर शास्त्र अध्ययन और कर्माभ्यास करता हुआ आ³ुर्वेदशास्त्र में दक्षता प्राप्त करता था।

आ[3]ुर्वेद अध्ययन विधि का वर्णन सुश्रुत-संहिता में इस प्रकार बताया गया है-**नित्य कार्य करके पवित्र होने पर, उत्तरीय वस्त्र धारण करके एकाग्रचित्त से अभिवादन करके अध्ययन काल के उपस्थित होने पर शिष्य के लिए गुरु यथाशक्ति पद, पाठ अथवा श्लोक पढ़ाये और ये पद-पाठ-श्लोक फिर बार-बार क्रम से घटित करे और शिष्य को समझाये। पाठ करने की विधि न तो बहुत शीघ्र, न बहुत रुक-रुक कर, विना भय के, विना नासिका स्वर के साफ अक्षरों से, वर्ण को विना दबाये, आँख, भ्रू, ओष्ठ, हाथों को बिना चलाये, साफ मधुर आवाज में न अधिक आरोह या अवरोह के साथ तथा मध्यम स्वर में होनी चाहिये। पवित्रता से गुरु के अनुसार चलने वाला, चतुर, आलस्यरहित होकर जो शिष्य विद्याध्ययन करता है, वह इस चिकित्साशास्त्र को आद्योपान्त समझ पाता है। शिष्य को अतिस्पष्ट वाक् सौष्ठव से, अर्थज्ञान जानने में प्रगल्भ, कर्मनैपुण्य, कर्माभ्यास में और वाञ्छित अर्थसिद्धि में निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिये। पढ़े हुए शास्त्र को अर्थपूर्वक समझना चाहिये अन्यथा मात्र शास्त्रीय ज्ञान भारस्वरूप होता है। आचार्य द्वारा किये गये समस्त अध्यायों का पाद और श्लोकानुसार व्याख्यान शिष्य को सुनना और समझना चाहिये। क्योंकि आयुर्वेद में रोग, शरीर-रचना, दोष-धातु, औषधि-रस, द्रव्यगुण-कर्म, शल्य-शालाक्य आदि का ज्ञान अत्यन्त विस्तृत है, अतः प्रयोजनवश जो**

व्याकरण, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, ज्योतिष आदि शास्त्र इस आयुर्वेदशास्त्र के ज्ञानप्राप्ति में अभिप्रेत हों, उन शास्त्रों के विशेषज्ञों से उनका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि एक ही शास्त्र में सब शास्त्रों का समावेश करना सम्भव नहीं है। एक ही शास्त्र को पढ़ने वाला व्यक्ति शास्त्र के निश्चय को नहीं जान पाता, अतः जिसने बहुत सारे शास्त्र पढ़े हों, वही चिकित्साशास्त्र को समझ सकता है।

सम्पूर्ण शास्त्र के अध्ययन के साथ-साथ शिष्य को योग्या (शल्यक्रिया का अभ्यास) करवाना चाहिये। योग्या का तात्पर्य कर्माभ्यास (Operative Surgery) से है। स्नेहन, वमन, विरेचन आदि तथा छेदन, भेदन, वेधन आदि शास्त्रकर्मों की विधि बतलानी आवश्यक है। क्योंकि अनेक शास्त्रों का भली प्रकार अध्ययन कर लेने पर भी कर्माभ्यास किये विना वह व्यक्ति चिकित्सा कार्य के अयोग्य होता है। इस प्रकार जो मेधावी शिष्य विभिन्न प्रकार से कर्माभ्यास करता है, वह चिकित्सा कार्यों में मोहित नहीं होता है। अतः शस्त्र, क्षार, अग्नि आदि कार्यों में कुशलता चाहने की इच्छा से कर्माभ्यास में सतत संलग्न रहना चाहिये।

डॉ. एस० के० जोशी

बी.ए.एम.एस., एम.डी.

राजकीय आयुर्वैदिक कालेज, गुरुकुल काँगड़ी

हरिद्वार-२४-९४०४

गुरुकुलीय शिक्षा का दार्शनिक आधार

डॉ० सोहनपाल सिंह आर्य

जब हम शिक्षा के विषय में कुछ मूलभूत प्रश्नों के माध्यम से विचार करते हैं, तब शिक्षा के कलात्मक एवं वैज्ञानिक पक्ष की अपेक्षा उसका दार्शनिक पक्ष हमारे लिये विचारणीय होता है। शिक्षा के दार्शनिक आधार को जानने के लिये कुछ विचारणीय प्रश्न निम्न हो सकते हैं:-१.शिक्षा का मूलरूप कैसा हो? २. शिक्षा के सङ्घटक तत्त्व कितने एवं कौन-कौन से हैं? ३.शिक्षा प्रदान करने का मूल उद्देश्य कौन सा है? ४.मूल उद्देश्य की संसिद्धि हेतु कौन-कौन-से साधन अपनाये जाने आवश्यक हैं? ५. शिक्षा-पद्धति का निर्धारक आधार कौन-सा हो? शिक्षा के पाठ्यक्रम की निर्धारक कसौटियाँ कौन-सी हों? शिक्षण-केन्द्र, उसका पर्यावरण एवं नियन्त्रण/व्यवस्थापक कैसा हो? ये प्रश्न शिक्षा के दार्शनिक पक्ष को समझने के लिये इसलिये भी विचारणीय हैं, क्योंकि इनसे शिक्षा के स्वरूप, आधार, उद्देश्य, प्रणाली, पाठ्यक्रम, प्राथमिकता तथा केन्द्र आदि के ज्ञान एवं निर्धारण में सहायता मिलती है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में, जब हम वैदिक शिक्षा प्रणाली पर दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार करते हैं, जो सामन्यतः '**गुरुकुलीय शिक्षा-प्रणाली**' के नाम से जानी जाती है, तो सर्वप्रथम हमारे सम्मुख यह विचारणीय प्रश्न उपस्थित होता है कि वैदिक शिक्षा-प्रणाली का मूल स्वरूप कैसा है? अध्यात्मवादी अथवा भौतिकतावादी या प्रयोजनवादी अथवा अस्तित्ववादी। वास्तव में, ये सभी पाश्चात्त्य शिक्षा-दर्शन की अलग-अलग धारायें हैं। जो परस्पर टकराती भी हैं। आदर्शवाद की प्रमुख मान्यताएँ निम्नलिखित हैं:-

१. जगत् का मूलतत्त्व 'आत्मा' या 'चेतन' है। उसी से जड़-चेतन जगत् का निर्माण/विकास हुआ है।

२. आत्मा सत्य है। भौतिक जगत् सत्य नहीं है।

३. मनुष्य अपने वास्तविक आत्मिक रूप को साक्षात् कर सकता है। शिक्षा आत्म-साक्षात्कार का साधन है। इसके साथ ही शिक्षा मनुष्यों में निहित प्रसुप्त क्षमताओं के विकास का साधन भी है।

अध्यात्मवाद के विपरीत भौतिकवाद/यथार्थवाद की निम्न आधारभूत मान्यताएँ हैं:-

१. जगत् का मूल आधार 'भौतिक' है न कि चेतना। उसीसे जड़-चेतन का विकास हुआ है।

२. भौतिक जगत् की वस्तुएँ एकमात्र सत्य हैं। अनुभवकर्त्ता के मन की सृष्टि नहीं हैं।

३. शिक्षा का उद्देश्य मनुष्यों को ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से जगत् का यथार्थ ज्ञान कराना मात्र है। इसलिये भौतिक संसाधनों की सहायता से व्यक्ति को प्राकृतिक वातावरण के अनुकूल बनाने पर भौतिकवाद विशेष बल देता है।

इन दोनों परस्पर विरोधी धाराओं के विपरीत अस्तित्ववाद मनुष्य की स्वतन्त्रता का प्रबल पोषक है। उसकी आधारभूत मान्यता है कि 'अस्तित्व सार का पूर्वगामी है।' यह मत मनुष्य की निजता, स्वतन्त्रता तथा अस्तित्वबोध का समर्थन करता है। **'मनुष्य की ओर लौटो'** इसका प्रमुख नारा है।

परन्तु प्रयोजनवाद या उपयोगितावाद ऐसे किसी सैद्धान्तिक विभाजन को अनावश्यक मानता है, जिसका व्यावहारिक दृष्टि से कोई उपयोग न हो। इसलिये वह तात्त्विक चिन्तन की अपेक्षा व्यावहारिक पक्ष पर विशेष बल देता है। इसलिये उसकी दृष्टि में वैज्ञानिक सत्य अथवा आध्यात्मिक चिन्तन तब तक कोई अर्थ नहीं रखता, जब तक कि उसका कल्याणकारी पक्ष सामने न हो। इसीलिये प्रयोजनवादी दार्शनिक **'परिणामोन्मुखी-शिक्षा'** पर विशेष बल देते हैं।

परन्तु जहाँ तक इस सन्दर्भ में गुरुकुलीय शिक्षा का प्रश्न है, वह उपर्युक्त एकाङ्गीपन से सर्वथा मुक्त पायी जाती है। इसीलिये वैदिक शिक्षा- व्यवस्था नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिये शिक्षार्थी को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया जाता है। यह प्रक्रिया मनुष्य के

जन्म से पूर्व गर्भाधान-संस्कार से प्रारम्भ हो जाती है और जीवन पर्यन्त चलती रहती है। परन्तु नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास से यह अभिप्राय नहीं है है कि उसे भौतिक जगत् से विमुख कर दिया जाये। वास्तव में, शिक्षार्थी के आत्मिक-विकास के साथ-साथ भौतिक विकास की भी समुचित व्यवस्था गुरुकुलीय शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत की जाती है। तभी शिक्षार्थी आगे चलकर अपने जीवन में धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष-इन पुरुषार्थों की सिद्धि के लिये दृढ़तापूर्वक अपने कदम बढ़ा सकता है। जो गुरुकुलीय शिक्षा-प्रणाली का मूल उद्देश्य माना जाता है। वैदिक शिक्षा-व्यवस्था में शिक्षार्थी के सर्वाङ्गीण विकास का उत्तरदायित्व उसके शिक्षक/आचार्य का होता है। जिसका शिक्षार्थी के साथ सन्तानवत् सम्बन्ध माना जाता है। इसीलिये वैदिक शिक्षा-व्यवस्था के अन्तर्गत शिक्षण-केन्द्र गुरुकुल या आचार्यकुल के नाम से जाना जाता है।

वैदिक शिक्षा-व्यवस्था के अन्तर्गत शिक्षक एवं शिक्षार्थी के अतिरिक्त शिक्षा के समुचित पर्यावरण पर भी प्रकृतिवाद की भाँति महत्त्व दिया जाता है। गुरुकुल कहाँ स्थित हो? इस विषय में यजुर्वेद का मन्त्र है-

उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्।
धिया विप्रोऽजायत॥ यजु० २६.१५.

अर्थात् मनुष्य पर्वतों की उपत्यकाओं और नदियों के मिलनस्थलों पर गुरुओं से बुद्धि प्राप्त करके विद्वान् बनता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत एकाङ्गीपन का अभाव पाया जाता है, जिससे उपर्युक्त पाश्चात्त्य शैक्षिक- सम्प्रदाय ग्रसित पाये जाते हैं। इसका मूल कारण है कि वैदिक शिक्षा-प्रणाली का सुसंगत, तात्त्विक दृष्टिकोण पर आधारित होना।

वैदिक शिक्षा के दार्शनिक स्वरूप को समझने के लिये दूसरा महत्त्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न यह है कि वैदिक शिक्षा के सङ्घटक तत्त्व कितने और कौन-कौन से हैं? जब हम वैदिक शिक्षा के सङ्घटक तत्त्वों पर दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञानपिपासु विद्यार्थी के साथ-साथ पिता समान शिक्षक, शिक्षणकेन्द्र (गुरुकुल), प्राकृतिक-पर्यावरण, पाठ्यक्रम एवं सर्वाङ्गीण

विकास की परम्परा एवं दिनचर्या इत्यादि तत्त्व वैदिक शिक्षा के अन्तर्गत दृष्टिगोचर होते हैं। शतपथ-ब्राह्मणकार ने तीन शिक्षक माने हैं-'**मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद**' अर्थात् जो गर्भाधान से लेकर पूर्णविद्या प्राप्ति पर्यन्त सुशीलता का उपदेश करे, ऐसे माता-पिता एवं शिक्षक-ये मनुष्य के तीन गुरु होते हैं। महाभाष्यकार के अनुसार इन तीनों को अपनी सन्तानों एवं शिष्यों के दोषों का परिमार्जन हेतु ताडन करना आवश्यक है, जो अमृततुल्य है। तैत्तिरीयोपनिषद्कार के अनुसार-'**माता-पिता एवं आचार्य का कर्त्तव्य है कि सदैव सन्तान एवं शिष्यों को सदाचरण का उपदेश करे।**'

परन्तु शिक्षा प्रदान करने में माता-पिता की भूमिका तभी तक अधिक महत्त्वपूर्ण रहती है, जब तक कि सन्तान ५ या ८ वर्ष पर्यन्त उनके पास रहे। गुरुकुल में प्रवेश के बाद सन्तान को शिक्षा प्रदान करने का मुख्य दायित्व आचार्य का हो जाता है। ऋषि दयानन्द के अनुसार गर्भ में रहकर माता-पिता के सम्बन्ध से जो जन्म होता है, वह प्रथम जन्म कहलाता है और दूसरा जन्म यह है कि जिसमें आचार्य पिता और विद्या माता होती है। इस दूसरे जन्म के न होने से मनुष्य को मनुष्यत्व की प्राप्ति नहीं होती। वैदिक शिक्षा-व्यवस्था के अन्तर्गत गुरु की महत्ता इतनी अधिक होती है कि वह विद्या अर्जन के पश्चात् जब कर्म क्षेत्र में प्रवेश करता है तो अपने कुल, गोत्र आदि के साथ आचार्य का नाम भी अपनी पहिचान के रूप में प्रस्तुत करता है।

इसी क्रम में यहाँ तीसरा विचारणीय प्रश्न है कि वैदिक शिक्षा प्रदान करने का मूल उद्देश्य कौन-सा है? इस प्रश्न पर वैदिक दृष्टिकोण से विचार करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि शिक्षा सर्वाङ्गीण विकास का साधन है। दयानन्द सरस्वती के मतानुसार '**जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय आदि की बढ़ती होवे और अविद्या आदि दोष छूटें, उसको शिक्षा कहते हैं।**' शिक्षा का मूल आधार संस्कार है। ऋषि दयानन्द के अनुसार '**संस्कार उसको कहते हैं जिससे शरीर, मन, आत्मा उत्तम होवे, वह निषेकादि से श्मशान पर्यन्त सोलह प्रकार का है।**' अथर्ववेद ११.३.७. के अनुसार **वह ब्रह्मचारी वेदविद्या को यथार्थ जानकर प्राणविद्या, लोकविद्या तथा प्रजापति परमेश्वर** (**जो कि सबसे बड़ा और**

सबका प्रकाशक है, उस) को जानना और इन विद्याओं ऐश्वर्ययुक्त होके असुर अर्थात् मूर्खों की अविद्या का छेदन कर देता है।

इस तरह हम यह कह सकते हैं कि वैदिक शिक्षा व्यवस्था भौतिकतावाद की भाँति मनुष्य के विकास को भौतिक विकास तक सीमित नहीं करती, अपितु वह अध्यत्मवाद की भाँति शिक्षार्थी के आध्यात्मिक विकास की संवाहक भी है। यह सत्य भी है कि यदि मनुष्य भौतिक विकास की उँचाइयों को छू भी ले, परन्तु यदि वह पशु तुल्य बना रहता है, तो उसका शिक्षित होना व्यर्थ है। रेत की दीवार की भाँति भौतिक प्रगति का भवन कभी भी भरभरा कर मनुष्य के ऊपर आ गिरेगा। इसलिये वैदिक शिक्षा-व्यवस्था, जो दोनों प्रकार की (भौतिक और आध्यात्मिक) उन्नति में सहायक है, उत्तम है।

वैदिक शिक्षा के मूल उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये कौन-कौन से साधन अपनाये जाने आवश्यक हैं? यह प्रश्न भी इस सन्दर्भ में विचारणीय है। वैदिक साहित्य के अनुशीलन से यह विदित होता है कि इसके लिये निम्न साधनों को अपनाया जाना आवश्यक है-१. पूर्णकालिक शिक्षा, २. ब्रह्मचर्य-व्रत, ३.तपस्वी दिनचर्या, ४. वैदिक ग्रन्थों का पठन-पाठन आदि।

वैदिक शिक्षा जिन उच्च आदर्शों को सामने रखकर प्रदान की जाती है, उन्हें मूर्तरूप प्रदान करने के लिये उतने ही उत्कृष्ट साधनों की आवश्यकता होती है। इसके लिये पूर्णकालिक शिक्षा का प्रावधान है। ऋषि दयानन्द के अनुसार **'विद्याध्ययन के दौरान माता-पिता भी अपनी सन्तानों से न मिलें और किसी प्रकार का पत्र व्यवहार न करें। जिससे सांसारिक चिन्ता से रहित होकर केवल विद्या बढ़ाने की चिन्ता करें।'**

विद्याध्ययन के दौरान शिक्षार्थी ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करे और तपस्वी दिनचर्या का आचरण करे। अथर्ववेद का मन्त्र कहता है-

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्॥

—अथर्व०११.३.१९.

अर्थात् 'ब्रह्मचर्य और धर्मानुष्ठान से ही विद्वान् लोग जन्म-मरण को जीत के सुख को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे-इन्द्र (सूर्य) परमेश्वर के नियम में स्थिर होकर सब लोकों को प्रकाशित करता है।'

परन्तु ऐसा तपस्वी ब्रह्मचारी स्वभावत: गुरुभक्त होगा, तभी वह शास्त्रीय रहस्यों एवं गुरु उपदेशों को जीवन में धारण कर सकेगा। वैदिक ग्रन्थों के पठन-पाठन को ऋषि दयानन्द ने परमधर्म की संज्ञा दी है। गुरुकुलीय शिक्षा के आदर्शो को प्राप्त करने का यह सुपरिक्षित साधन है। ऋषि दयानन्द के मतानुसार **'जैसे विषयुक्त अन्न को छोड़ देते हैं, वैसे ही सभी अवैदिक ग्रन्थों तथा उनमें वर्णित मतपन्थों का परित्याग करना आवश्यक है। क्योंकि विना ज्ञान के उन्नति कैसी?'** इसलिये वैदिक शिक्षा का मूलाधार वेद एवं वेदानुकूल आर्ष ग्रन्थ हैं।

इसी सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न यह भी है कि शिक्षा-पद्धति का आधार कौन-सा हो? वस्तुत: इस प्रश्न का उत्तर शिक्षा के उद्देश्यों और साधनों पर दृष्टिपात करने से खोजा जा सकता है। उदाहरणार्थ-मैकाले द्वारा प्रतिपादित पाश्चात्त्य शिक्षा-पद्धति का उद्देश्य था कि **'हमें भारत में इस तरह के लोग चाहिये जो कि केवल खून और रंग की दृष्टि से हिन्दुस्तानी हों, किन्तु जो अपनी रुचि, भाषा, भावों और विचारों की दृष्टि से अंगरेज हों।'**

इस उद्देश्यकी पूर्ति हेतु मैकाले ने भारतीयों को प्राचीन भारतीय शिक्षा-प×ति से वञ्चित करके उन्हें अंगरेजी भाषा, अंग्रेजी साहित्य और अंग्रेजी विज्ञान सिखाने का समर्थन किया, जिसे लॉर्ड बेटिंग ने स्वीकृति प्रदान की। उक्त शिक्षा-नीति का परिणाम की चर्चा करते हुए प्रो० एच.एच. विल्सन कहते हैं कि **'हमने अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों की एक अलग जाति बना दी है, जिन्हें अपने देशवासियों के साथ या तो सहानुभूति है ही नहीं और यदि है तो बहुत कम।'** एक अन्य विश्लेषक का मत है कि **'इस शिक्षा का अन्तिम परिणाम यह होगा कि भारत और इंग्लिस्तान का पृथक् होना दीर्घ और अनिश्चित काल के लिये टल जायेगा।'**

परन्तु गुरुकुलीय शिक्षा के पुनरुद्धारक ऋषि द³ानन्द सच्चे योगी, तत्त्ववेत्ता मनीषी थे। वेद एवं वैदिक संस्कृति के प्रबल पोषक, सन्देश वाहक एवं प्रवक्ता थे। उनकी रग-रग में स्वदेश के प्रति अगाध प्रेम, स्वाभिमान, स्वाधीनता, स्वदेशी और चक्रवर्ती के राजा के भाव ओत-प्रोत थे। इन उद्देश्यों एवं उदात्तभावों से ओत-प्रोत बालक-बालिकाओं के निर्माण के लिये गुरुकुलीय शिक्षा-प×ति एक आदर्श साधन के रूप में उनके सामने विचारणीय थी। इसीलिये उन्होंने अपने ग्रन्थों में यथाप्रसङ्ग गुरुकुलीय शिक्षा-प×ति का सूत्ररूप में विवेचन किया। जिसे उनके उत्साही शिष्य, त्याग एवं श्रद्धा की प्रतिमूर्ति महात्मा मुंशीराम जी ने गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना करके मूर्तरूप प्रदान किया। जो बाद में स्वामी श्रद्धानन्द जी के नाम से शैक्षिक जगत् एवं राजनीतिक क्षेत्र में प्रसिद्ध हुए। इस गुरुकुल के स्नातकों ने आगे चलकर राजनीति, पत्रकारिता, शिक्षा, क्रीडा जगत् आदि क्षेत्रों में देश की महनीय सेवा की।

ऋषि द³ानन्द ने जिन आदर्शों के दृष्टिगत रखते हुए गुरुकुलीय शिक्षा का प्रतिपादन किया था, उसके मूल में वैदिक शिक्षा के पाठ्यक्रम का विशेष महत्त्व है। आज देश-विदेश में ज्ञान-विज्ञान का विकास होने के कारण शिक्षा का ऐसा पाठ्यक्रम निर्माण करने की प्रवृत्ति विकसित हो गयी है, जिससे विषय-विशेषज्ञों के रूप में छात्रों का निर्माण किया जा सके। परन्तु इसका एक भयावह परिणाम यह सामने आ रहा है कि ऐसा विषय-विशेषज्ञ सर्वाङ्गीण विकास से वञ्चित रह जाता है। ऐसा एकाङ्गी विकास उसे अपने स्वास्थ्य, सामाजिक जीवन, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के प्रति उदासीन बना देता है और वह मशीनवत् जीवन जीने के लिये अभिशप्त हो जाता है। परन्तु वैदिक शिक्षा मनुष्³ को अपने निजी एवं सामाजिक जीवन में उत्तरदायी भूमिका का निर्वाह करने में सक्षम बना देती है, जिसकी वर्तमान युग में नितान्त आवश्यकता है। इसीलिये आज मूल्य केन्द्रित शिक्षा के प्रचार-प्रसार की महती आवश्यकता अनुभव की जा रही है।

वैदिक शिक्षा-व्यवस्था के स्वरूप पर विचार करते समय शिक्षा संस्था के स्थान, पर्यावरण एवं उसके नियन्त्रण का प्रश्न भी कम विचारणीय नहीं है। इस सन्दर्भ में ऋषि दयानन्द का मन्तव्य है कि गुरुकुल जन कोलाहल से दूर नगर अथवा ग्राम से ४ कोस दूर

स्थित हो। नदी, पर्वत एवं वन का पर्यावरण विद्याध्ययन के लिये उत्तम होता है। गुरुकुल का नियन्त्रण गुरु/आचार्य के हाथों में हो। उसमें समाज अथवा सरकार का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष किसी प्रकार का हस्तक्षेप न हो। परन्तु गुरुकुलीय विकास हेतु समाज एवं सरकार द्वारा समय-समय पर दान, अनुदान द्वारा सहायता करना इनका नैतिक, सामाजिक कर्तव्य है। क्योंकि गुरुकुल न केवल समाज के लिये सुसंस्कारित नागरिकों का निर्माण करते हैं, अपितु उनका वर्ण निर्धारित करके समाज में उनकी भूमिका एवं दायित्व का निश्चय करते हैं। इसलिये बाह्य हस्तक्षेप से रहित होकर ही आचार्य अपने कर्तव्यों का निष्पक्षतापूर्वक निर्वहण कर सकता है।

आज के उपभोग प्रधान युग में शिक्षा प्रदान करना एक लाभकारी व्यवसाय बन गया है, शिक्षक एवं शिक्षार्थी के मध्य विक्रेता और उपभोक्ता का सम्बन्ध विकसित हो गया है। ऐसे में गुरुकुलीय शिक्षा के अन्तर्गत शिक्षक जहाँ शिक्षार्थी को सन्तानवत् स्नेह, मार्गदर्शन एवं शिक्षा प्रदान करता है, वहीं शिक्षार्थी भी अपने शिक्षक में माता-पिता की छवि देखता है। उनकी तन-मन-धन से यथाशक्ति सेवा-शुश्रूषा करने के लिये सदैव तत्पर रहता है। यह सोचकर ही सुखद आश्चर्य की अनुभूति उन लोगों को होती है, जो वैदिक शिक्षा-व्यवस्था से परिचित नहीं हैं। वस्तुतः यदि शिक्षा को मानव के सर्वाङ्गीण विकास का साधन बनाना है, जिसकी वर्तमान युग में नितान्त आवश्यकता है तो शिक्षा को **'बाजारवाद'** से सर्वथा मुक्त करना होगा। इसके लिये गुरुकुलीय शिक्षा एक आदर्श व्यवस्था सिद्ध हो सकती है। तभी सबको शिक्षा, समान सुविधा की चिर राष्ट्रीय माँग भी पूरी हो सकती है।

डॉ. सोहनपाल सिंह आर्य

दर्शन-विभाग

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

गुरुकुलीय शिक्षादर्शन

डॉ० प्रदीप जोशी

जिस समय विश्व में भारतवर्ष को इतर शिक्षा नाममात्र को थी, कहीं-कहीं तो सैन्यशिक्षा ही थी (संकेतों से बात करना), उस समय भारत शिक्षा की दृष्टि से पूर्ण विकसित था। उस समय लिखित शिक्षा-व्यवस्था नहीं थी, केवल श्रुति परम्परा से पढ़ाई जाने वाली शिक्षा-व्यवस्था थी। इसी कारण वेदों को श्रुति भी कहते हैं। भारत ने विश्व को शिक्षित किया, समाज की नींव रक्खी, व्यवहार का पाठ पढ़ाया, सभ्यता का सूत्रपात किया, अतः भारत विश्व गुरु कहलाया। भारत ने विश्व को वेदों का ज्ञान दिया। भारत में आज भी और उस समय भी **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की जीवनपद्धति थी। इस विश्व को भारत ने बहुत कुछ दिया, परन्तु आज कमजोर मनोवृत्ति के लोगों की वजह से प्रतीत होता है कि हम योरोपीय शिक्षा लेने की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं, लेकिन हमें अपनी विरासत के बदले में नग्नपन, दूषित और विद्रूप संस्कृति मिल रही है। आज जीवन के किसी भी क्षेत्र में देखिए प्रदूषण ही प्रदूषण मिलेगा। आज की पाश्चात्त्य शिक्षा से मनुष्य के हाव-भाव, चाल-चलन, प्रवृत्ति-मनोवृत्ति, आचार-विचार, रहन-सहन आदि सभी प्रभावित हो रहा है।

जीवन के इस महत्त्वपूर्ण पहलू को यदि हम प्राचीन शिक्षा-पद्धति से देखें तो हमें जीवन का सार मिलेगा। वह शिक्षा पद्धति है गुरुकुलीय शिक्षापद्धति। प्राक्तन शिक्षा व्यवस्था मनुष्य को रोटी, कपड़ा और मकान की व्यवस्था करने की शिक्षा नहीं देती, वहाँ वास्तव में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य कुछ और ही बताया जाता है। **'सा विद्या या विमुक्तये'** हमारे ऋषि-मुनियों ने उसी को शिक्षा कहा है जो मुक्ति प्रदान करे। इस संसार से मुक्ति नहीं, अपितु जीवन के हर क्षेत्र में विकास को प्राप्त कर मनुष्य उस स्थिति में पहुँचे, जहाँ उसके जीवन में लिप्सा, लोभ, मोह, क्रोध, स्वार्थ, काम आदि का स्थान समाप्त हो जाये। अपने समस्त सांसारिक जीवन का कर्तव्य निर्वहण कर परमपिता परमात्मा में लीन होकर मुक्त भाव को प्राप्त करे।

वास्तव में गुरुकुलीय जीवन छात्र को भावी जीवनचर्या तथा कर्तव्यों का उपदेश देकर उसे ऐसा कर्मठ बनाता है कि गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते ही वह अपने उत्तरदायित्व का सहजता से निर्वाह करने लगता था, लेकिन आज तेजी से बदल रहे इस युग में, जिसमें कि लगता है कि सारा संसार एक जगह इकट्ठा होगया है, सबकी मनोवृत्तियाँ बदल रही हैं, संस्कार समाप्त हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में धर्म की पुरानी परिपाटी पर पुनः विचार करना आवश्यक हो गया है। गीता में योगेश्वर कृष्ण ने कहा

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

इस प्रमाण के लिये वसिष्ठ, प्रह्लाद, दधीचि, शिवि, हरिश्चन्द्र, ध्रुव, अत्रि, याज्ञवल्क्य, रन्तिदेव, देवव्रत, युधिष्ठिर, सीता, सावित्री, कौशल्या, सुमित्रा, अनसूया, लोपामुद्रा, गार्गी, मैत्रेयी आदि अनेक महापुरुष और सद्वृत्त देवियों के पुण्यचरित्रों से हमारा सम्पूर्ण प्राचीन इतिहास भरा पड़ा है, इसलिये श्रेष्ठ महापुरुषों का चरित्र भी धर्म ही है। आज ऐसे महापुरुष कहाँ से ढूँढकर लायें, जिनके अनुसार समाज चल सके। **''महाजनो येन गतः स पन्था''** महाजनों का अभाव, समाज का बदलाव, मानवीय मूल्यों का ह्रास, संसार की हवा को तेजी से बदल रहा है, आगे का जीवन अन्धकारमय दीख रहा है।

ऐसी विषम परिस्थितियों को सुधारने का दायित्व पुनः भारतीय गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का है। देश की स्वतन्त्रता, लार्ड मैकाले की शिक्षा-पद्धति को ध्वस्त करने तथा भारतीय संस्कृति को पुनर्जीवित करने के लिये स्वामी श्रद्धानन्द ने इस आवश्यकता को समझा था। परिणामस्वरूप इस गुरुकुल विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। परन्तु आज परिस्थितियाँ बदल रही हैं, देश स्वतन्त्र है, लेकिन देश के युवाओं पर विदेशी संस्कृति अपना आधिपत्य स्थापित करती चली जा रही है, उससे मुक्त कराने के लिये आज फिर गुरुकुल की आवश्यकता अनुभव की जा रही है।

गुरुकुल शिक्षा-पद्धति का आधार है-ब्रह्मचर्य। कहा गया है- **''बृहत्वाद् बृंहणत्वाद् वा आत्मेव ब्रह्म इति गीयते''** आत्मा ही ब्रह्म है, ब्रह्म के रूप में वही समस्त संसार का

बृंहण अर्थात् प्रसारण करता है, आत्मज्ञान ही सभी प्रकार के अन्धकारों का उन्मूलन कर सकता है। एतदर्थ ब्रह्मचर्याश्रम में गुरुकुल में शास्त्रज्ञान प्राप्त करने का विधान था। यह आश्रम चारों आश्रमों की आधारशिला है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष- इन पुरुषार्थ चतुष्टयों के प्रतिपादन हेतु धर्म को सबसे प्रधान माना जाता है। धर्मरहित अर्थ और काम किसी भी प्रकार पुरुषार्थ नहीं कहे जा सकते हैं और मोक्ष का तो सीधा सम्बन्ध ही धर्म से है और इसका संग्रहण होता है ब्रह्मचर्यकाल में। मनुष्य के बौद्धिक एवं शिक्षित जीवन के लिये ही ब्रह्मचर्याश्रम की व्यवस्था की गई है। ब्रह्म का अर्थ है महान् और और चर्या का अर्थ विचरण करना है। महान् ब्रह्म में विचरण करना ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य केवल इन्द्रियनिग्रह ही नहीं, बल्कि इसके साथ ही वेदाध्ययन भी है। ब्रह्म और वेद का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

गुरुकुलीय व्यवस्था में दो प्रकार के ब्रह्मचारियों की परम्परा रही है। एक उपकुर्वाण जो गुरु को कुछ प्रतिदान देकर गृहस्थ में प्रवेश करने का अधिकारी होता था और दूसरा नैष्ठिक ब्रह्मचारी जो मृत्युपर्यन्त गुरु की सेवा शुश्रूषा, समिधा, वेदाध्ययन, शिक्षा, भूमिशयन एवं आत्म-संयम में जीवन व्यतीत कर मोक्ष को प्राप्त करता था।

प्राचीन परम्परा के अनुसार ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश का सीधा सम्बन्ध उपनयन संस्कार से है। उपनयन का अर्थ है-"पास या सन्निकट ले जाना।" इस संस्कार में बालक को आचार्य के समीप लाया जाता था। आज यह मात्र परम्परा का निर्वाह के लिये रह गया है। उपनयन का वास्तविक अर्थ और प्रयोजन दोनों ही समाप्त हो गए हैं। पौराणिकों में भी यह अब विवाह के समय प्रतीक रूप में ही रह गया है।

उपनयन का सीधा सम्बन्ध वेदाध्ययन से था। ब्रह्मचारी इस मुख्य कार्य का सम्पादन गुरुकुल में ही करता था। गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचारी गुरु द्वारा दिये गये विभिन्न कार्य, उसके द्वारा निर्दिष्ट वेशभूषा को ही धारण करता था। जिसमें वह अपने व गुरु के लिये भिक्षा लाना, पलाश या गूलर का दण्ड धारण करना, सन, ऊन आदि के वस्त्र पहिनना, यज्ञोपवीत धारण करना आदि।

ब्रह्मचारियों को यह भी निर्देश दिया जाता था कि वे भोज्यपदार्थ को आदर की दृष्टि से देखें तथा उसकी निन्दा न करते हुए प्रसन्नतापूर्वक भोजन करें। आदर पूर्वक किया गया भोजन सर्वदा बल और कान्ति बढ़ाता है। साथ ही अधिक अन्न के भक्षण का भी निषेध किया गया है। मनु ने अधिक अन्न को स्वर्ग प्राप्ति में बाधक माना है। चरक ने भी कहा है कि आदर से शुक्र बल की वृद्धि होती है। शुक्र के नष्ट होने से अनेक रोग और अन्ततः मृत्यु होती है। कहा भी है-'**मरणं बिन्दुपातेन**' और संचय से आत्मज्ञान होता है। जीवन की आधारशिला इसी आश्रम में रक्खी जाती है।

ब्रह्मचर्याश्रम की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यवस्था अनुशासन की थी और उसमें गुरु के प्रति श्रद्धाभक्ति को महत्त्व दिया गया है। मनु ने गुरु से प्रेरित न होने पर भी ब्रह्मचारी को नित्य वेदाध्ययन और आचार्य की सेवा को आवश्यक माना है। मनु का मत है कि गुरु की उपस्थिति में शिष्य को असावधानीपूर्वक अथवा स्वच्छन्द नहीं बैठना चाहिये। इसके अतिरिक्त शिष्य को यह भी निर्देश दिया जात है कि वह किसी भी उपस्थिति में गुरु की न निन्दा करे और न उसका श्रवण ही करे।

गुरुकुलों में अनुशासन को नित्य, नैमित्तिक कर्मों के साथ भी जोड़ा गया है। गौतम, मनु आदि ऋषियों ने निर्देश दिया है कि विद्यार्थी को नित्य स्नान कर देव, ऋषि और पितरों को सेवा से प्रसन्न करना चाहिए। विद्यार्थी को सूर्योदय से पूर्व ही उठना चाहिये अन्यथा वह पाप का भागी होता है।

ब्रह्मचारी के लिये वर्जित कर्म-ब्रह्मचारी को मधु, मांस, मदिरा, सुगन्ध, माला, रस, स्त्री सहवास, सब प्रकार के आसव और प्राणियों की हिंसा इन सबका परित्याग कर देना चाहिये। उबटन, आँखों में काजल, जूता पहिनना, छाता लगाना, काम, क्रोध, लोभ, नाचने-गाने और बजाने इन सबसे ब्रह्मचारी को दूर रहने का विधान था। जुआ, कलह, निन्दा, मिथ्याभाषण, स्त्रियों की ओर सकाम दृष्टि से देखना या उन्हें आलिङ्गन करना और दूसरे मनुष्य की बुराई ये सब ब्रह्मचारी को लिये त्याज्य हैं। उसके लिये सब प्रकार से इन्द्रिय निग्रह की आवश्यकता बतायी गयी है। मनु कहते हैं कि इन्द्रियों को वश में करने वाला ब्राह्मण यदि केवल गायत्री मन्त्र ही जानता है तो वह श्रेष्ठ है, किन्तु सर्वभक्षी, सब कुछ बेचने वाला,

अजितेन्द्रिय ब्राह्मण तीनों वेदों को जानने वाला होने पर भी श्रेष्ठ नहीं है। परमार्थ सिद्धि प्राप्त करने के लिये इन्द्रिय-निग्रह को आवश्यक माना गया है।

ब्रह्मचर्याश्रम जीवन का महत्त्वपूर्ण समय होता है। इसी में मनुष्य के भविष्य की नींव रक्खी जाती है, अतः इस समय ब्रह्मचर्य के पालन पर विशेष महत्त्व दिया गया है। विद्यार्थी जीवन में ही मनुष्य का सर्वाङ्गीण विकास प्रारम्भ होता है। उसमें आतुरता, भावात्मकता, अस्थिरता रहती है। शारीरिक शक्ति और यौन प्रवृत्तियों का विकास भी इसी काल में होता है। अतः व्यक्ति को सामाजिक पर्यावरण ही सही अथवा गलत दिशा में ले जाता है। इसी कारण प्राचीन ऋषि-मुनियों ने विद्यार्थी जीवन को इस प्रकार नियन्त्रित किया है कि युवावस्था में उसका समुन्नत विकास हो सके। बाल्यावस्था से ही भौतिक सुखों की न्यूनता और अधिक परिश्रम मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को अनुशासित करते हैं।

प्राचीन गुरुकुलीय व्यवस्था अत्यन्त कष्टप्रद थी, लेकिन वह एक ऐसी व्यवस्था थी, जिसके अनुसार चलकर मनुष्य अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विजयी होता था। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, ज्योतिष, दर्शन, अर्थशास्त्र, विज्ञान आदि अनेक विषयों का अध्ययन कराया जाता था, जिससे मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त कर इहलौकिक और पारलौकिक सुखों का सेवन कर सके। चूँकि ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी का जीवन सादा होता था, अतः जीवन सभी प्रकार के प्रदूषण रहित था। आज वह गुरुकुलीय व्यवस्था समाप्त हो गई है। पब्लिक स्कूलों की बाढ़ आ गई है, संस्कार-संस्कृति समाप्त हो गई है, ब्रह्मचर्य का जीवन में कोई स्थान नहीं रह गया है। फिर अन्य आश्रमों के सुधार की कैसे अपेक्षा की जा सकती है। यदि वही संस्कार, वही संस्कृति, वही रहन-सहन, वही अनुशासन, वही त्याग, वही सेवाभाव, वही समर्पण जीवन में आ जाए तो फिर हम श्रेष्ठ होंगे, फिर हम विश्व गुरु होंगे, फिर स्वयमेव पर्यावरण सुन्दर हो जायेगा।

डॉ० प्रदीप जोशी

जनसम्पर्क अधिकारी

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार.

गुरुकुल शिक्षा व राष्ट्रभावना: एक अटूट सम्बन्ध

कुलभूषण शर्मा

कोई भी राष्ट्र उन्नतशील व प्रगतिशील तभी बन सकता है, जब उसमें रहने वालों में उसके प्रति लगाव व समर्पण की इच्छाशक्ति होती है। इन दोनों तथ्यों के निर्माण में शिक्षा-पद्धति मुख्य भूमिका रहती है। पाश्चात्य देशों ने शिक्षा को भी अन्य उद्योगों की तरह ही एक व्यवसाय का रूप दे रक्खा है, परन्तु हमारे यहाँ शिक्षा ईश्वर द्वारा दी गयी अमूल्य धरोहर (अलौकिक शक्ति) मानी गयी है, जो हर मनुष्य में विद्यमान.है, जिसे समय रहते तराशने की जरूरत होती है, जिस कार्य को केवल गुरुकुल जैसी संस्थाएँ ही कर सकती हैं।

हमारे यहाँ प्राचीन काल से ही अनेकों ऐसी शिक्षण संस्थाएँ हुई हैं, जिन्होंने अपने यहाँ शिक्षा ग्रहण करने वाले छात्रों को सांस्कृतिक, ऐतिहासिक व परम्परागत शिक्षा के साथ-साथ राष्ट्रभावना व राष्ट्रसमर्पण की शिक्षा का पाठ पहले पढ़ाया तथा समय आने पर अपनी निस्वार्थ राष्ट्रभक्ति का प्रदर्शन प्रस्तुत किया। उसी प्राचीन परम्परा को आज गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार आगे बढ़ा रहा है।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार की स्थापना भारतीय संस्कृति, राष्ट्रनिर्माण व प्राचीन शिक्षा-पद्धति को बचाने के उद्देश्य से की गई थी। जब भारतीय पुनर्जागरण काल व उसके अनन्तर पाश्चात्त्य सभ्यता व शिक्षा तेजी से हमारे देश में पाँव पसार रही थी, उस समय उस पाश्चात्यवाद के विरुद्ध महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों को आगे रखते हुए वेद की पताका को हाथ में लेकर बिगुल बजाने का साहस महान् स्वतन्त्रता सेनानी स्वामी श्रद्धानन्द (पूर्व नाम मुंशीराम) ने किया था। जिन्हें प्रारम्भ में काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था, तत्कालीन सरकार ने इस संस्था को राष्ट्रविरोधी घोषित करते हुए इसके विरुद्ध एक जाँच समिति गठित की थी। इसकी जाँच करने के लिये तत्कालीन संयुक्त प्रान्त के गवर्नर सर जेम्स

मेस्टन आए और उन्होंने यहाँ (गुरुकुल) आकर इस संस्था की गतिविधियों का सूक्ष्म निरीक्षण किया। यहाँ की शिक्षा-पद्धति से वे इतने प्रभावित हुए कि वे यहाँ से जाने के बाद पुनः चार बार इस गुरुकुल में आये। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में सरकार से यहाँ की व्यवस्था की बहुत प्रशंसा की।

गुरुकुल पाठ्यशिक्षा में प्रारम्भ काल से ही छात्रों में देशप्रेम, सेवा, त्याग व समर्पण की भावना का संचार बराबर कराया जाता है। समय-समय पर राष्ट्र में जब भी कोई संकट आया है तो यहाँ के छात्रों, अध्यापकों व कर्मचारियों ने बढ़चढ़कर उसे दूर करने में भाग लिया है। सदैव संकट के समय चट्टान की तरह आगे बढ़कर आर्य देश के सभी आन्दोलनों व प्राकृतिक आपदाओं के समय गुरुकुल राष्ट्र सेवा में हमेशा अग्रणी रहा है। गुरुकुल ने अनेकों क्रान्तिकारी व देशभक्त इस देश को दिये हैं, जिन्होंने समय पड़ने पर विना किसी भेदभाव के अपना सर्वस्व राष्ट्रहित में समर्पित कर दिया। आज यह गुरुकुल अपने उन पूर्वजों के द्वारा किये गये महान् कार्यों व त्याग से प्रेरणा ले राष्ट्र निर्माण में अपनी भूमिका निभा रहा है। आज यहाँ के छात्र देश में विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न रूपों में कहीं शिक्षण, तो कहीं सैन्य अधिकारी व कहीं तकनीकी क्षेत्र में निरन्तर नये-नये आयाम स्थापित कर स्वयं व अपनी शिक्षण संस्था को गौरवान्वित कर राष्ट्रसेवा में निरन्तर अग्रसर हैं।

कुलभूषण शर्मा

पुस्तकालय विभाग

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार



छात्र जीवन में पंडित श्री हरबंसलाल शर्मा



युवावस्था में पंडित श्री हरबंसलाल शर्मा



दाम्पत्य जीवन में प्रवेश के अवसर पर पं. श्री हरबंसलाल शर्मा एवं श्रीमती राजरानी हरबंसलाल जी

पंडित श्री हरबंसलाल शर्मा अपनी पत्नी
श्रीमती राजरानी एवं आचार्य भगवान् देव जी
(स्वामी ओमानन्द जी) के साथ





सार्वदेशिक सभा, दिल्ली के
स्वामी आनन्दबोध जी के साथ
पंडित श्री हरबंसलाल शर्मा

जालन्धर आर्यसमाज के उत्सव पर
श्री वीरेन्द्र जी को धनराशि भेंट करते हुए
दानवीर पंडित श्री हरबंसलाल शर्मा




आर्यसमाज नवांशहर के उत्सव पर
पंडित जी आर्यजनों के साथ


विदेश दौरे पर अपनी पत्नी
श्रीमती राजरानी के साथ पंडित जी


विदेश दौरे पर अपनी पत्नी श्रीमती राजरानी
कं साथ पंडित श्री हरबंसलाल शर्मा



गुरुकुल काँगड़ी के जन्महोत्सव पर पंडित श्री हरबंसलाल शर्मा



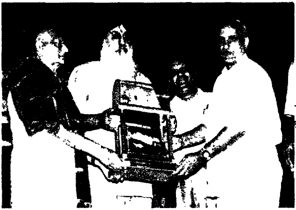
अपने समस्त परिवार के साथ पंडित श्री हरबंसलाल शर्मा



आर्य समाज के उत्सव पर आर्यजनों
के साथ पंडित श्री हरबंसलाल शर्मा



आर्य समाज, अड्डा होशियारपुर, जालन्धर के वार्षिक उत्सव पर पंडित जी विशेष अतिथि के
रूप में, उनके साथ सर्व श्री हाण्डा जी, श्री अमृत लाल खन्ना, ल0 राम द्वाबा,
हा0 सै0 स्कूल, श्री हंसराज जी शर्मा, श्री योगेन्द्रपाल सेठ, प्रधान आर्य समाज



पंडित जी पंजाब के मुख्यमंत्री
श्री प्रकाश सिंह बादल के साथ



पंडित जी आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान के रूप में पंजाब के
मनोरंजन विभाग के मन्त्री श्री कालिया को सम्मानित करते हुए



पंडित जी आर्य समाज मन्दिर, बस्ती गुजां जालन्धर के अवसर पर आर्यजनों को सम्बोधित करते हुए



पंजाब के मुख्यमन्त्री श्री बेअन्त सिंह के साथ पंडितजी



अपने कार्यालय में श्री पंडित जी

नित्य यज्ञोपरान्त पंडित जी सपत्नीक





कुलाधिपति चयन के पश्चात् पंडितजी अपने भाइयों के साथ



लेखराम नगर कादियां में स्वामी सर्वानन्द जी का स्वागत करते हुए पंडित जी



पंडित जी स्वामी सर्वानन्द जी एवं स्वामी मेघानन्द जी, मुम्बई वाले के साथ



लेखराम नगर कादियां में शोभा यात्रा के असवर पर श्री पंडित हरबंस लाल शर्मा स्वामी सर्वानन्द, स्वामी ओमानन्द जी एवं पंडित जी की धर्मपत्नी श्रीमती राजरानी



लेखराम नगर कादियां के अमर शहीद पंडित लेखराम के शताब्दी समारोह में पंजाब सरकार के मंत्री श्री बलराम दास टण्डन तथा बटाला के विधायक श्री जगदीश साहनी के साथ पंडित जी



नवाँशहर के बी.एड. कालेज के वार्षिकोत्सव पर पंडित श्री हरबंसलाल शर्मा



आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान बनने के पश्चात् पंडित श्री हरबंसलाल शर्मा अभिनन्दन स्वीकार करते हुए



पंडित श्री हरबंसलाल शर्मा का आर्यसमाज नवाँशहर के प्रधान श्री प्रेम भारद्वाज स्वागत करते हुए



पूज्य माता श्रीमती राजरानी जी श्रीमती कैप्टन देवरत्न जी के साथ



स्वामी सर्वानन्द जी महाराज के साथ गहन विचार विमर्श करते हुए पंडित जी



कुलाधिपति बनने के पश्चात् तीनों सभाओं के प्रधानों के साथ पंडित श्री हरबंसलाल शर्मा



कुलाधिपति बनने के पश्चात् पंडित श्री हरबंसलाल शर्मा आर्यजगत् के मूर्धन्य विद्वान डॉ महेश विद्यालंकार एवं पंडित सुदर्शन शर्मा जी के साथ



कुलाधिपति बनने के पश्चात् श्री देवन्द्र शर्मा तथा श्री सुदर्शन शर्मा एवं अन्य पारिवारिकजनों के साथ पंडित श्री हरबंसलाल शर्मा



उत्तरांचल के राज्यपाल श्री सुरजीत सिंह बरनाला के साथ गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति पंडित श्री हरबंसलाल शर्मा



2002 दीक्षान्त समारोह के अवसर पर ध्वजारोहण के पश्चात् कैप्टन श्री देवरत्न प्रधान सार्वदेशिक सभा, दिल्ली के साथ पंडित श्री हरबंसलाल शर्मा साथ में प्रो0 स्वतन्त्र कुमार जी, श्री सुदर्शन शर्मा जी एवं सम्पदाधिकारी श्री करतार सिंह जी



शताब्दी समारोह पर जाते हुए पंडित जी तथा साथ में श्री केप्टन देवरत्नजी, प्रधान सार्वदेशिक सभा, दिल्ली एवं श्री करतार सिंह सम्पदा अधिकारी गु. का. वि. वि; हरिद्वार



गुरुकुल के कुलाधिपति बनने पर 15 हनुमान रोड नई दिल्ली, आर्यसमाज के स्वागत समारोह में तीनों सभाओं के प्रधानों के साथ पंडित श्री हरबंस लाल शर्मा



पंडित लेखराम नगर कादियाँ में लेखराम शताब्दी के अवसर पर अपनी पत्नी श्रीमती राजरानी एवं परिवार के अन्य सदस्यों के साथ यज्ञ करते हुए पंडित श्री हरबंसलाल शर्मा



श्रद्धानन्द बलिदान दिवस पर ध्वज को सलामी देते हुए पंडित श्री हरबंसलाल शर्मा



श्रद्धानन्द बलिदान दिवस पर शोभा यात्रा में भाग लेते हुए पंडित श्री हरबंसलाल शर्मा



पंडित श्री हरबंसलाल शर्मा के अस्थि कलश यात्रा को सलामी देते हुए
गुरुकुल काँगड़ी वि. वि. के एन.सी.सी. के छात्र



पंडित श्री हरबंसलाल शर्मा के अस्थि कलश पर श्रद्धांजलि समर्पित करते हुए आर्य कालेजो के छात्र



पडितजी के अस्थि कलश की प्रतीक्षा करते हुए गुरुकुल के विद्यालय विभाग के छात्र



पंडित जी की अंतिम विदाई पर माता श्रीमती राजरानी जी हरिद्वार में साथ में
गुरुकुल के पदाधिकारी एवं विधायक श्री मदन कोशिक जी



पंडित जी के अस्थि कलश पर पुष्पाजलि समर्पित करते हुए हरिद्वार के विधायक श्री मदन कोशिक जी



पंडित श्री हरबंसलाल शर्मा के अस्थि कलश पर पुष्पांजलि समर्पित करते हुए माननीय कुलपति प्रो. स्वतन्त्र कुमार जी



कुलाधिपति बनने के पश्चात् सपत्नी यज्ञ करते हुए पडित श्री हरबंसलाल शर्मा के ज्येष्ठ पुत्र श्री सुदर्शन शर्मा एव पत्नी माता श्रीमती राजरानीजी एव यज्ञ कराते हुए आचार्य एव उपकुलपति प्रो वेदप्रकाश शास्त्री तथा पडित श्री हरिदत्तजी



श्री सुदर्शन शर्मा जी कुलाधिपति बनने के पश्चात् कुलपति श्री प्रो. स्वतन्त्र कुमार तथा
श्री देवव्रत शर्मा, महामंत्री सार्वदेशिक सभा, दिल्ली के साथ